षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह

(एक दार्शनिक अध्ययन)

डॉ० कैलाशपति मिश्र

(श्रीमद् राजानकानन्दविवरणोपेतः)

षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः

(एक दार्शनिक अध्ययन)

डॉ० कैलाश पति मिश्र

दर्शन एवं धर्म विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९९६

कला प्रकाशन

वाराणसी

प्रिय
अभिनव
मिश्र
को
उपहार स्वरूप

लेखकीय

'षट्त्रिंशत्तत्त्व सन्दोह' काश्मीर शैव दर्शन के विपुल साहित्य भण्डार का एक छोटा-सा अंग है। यह एक लघु ग्रन्थ है। इसमें कुल इक्कीस श्लोक हैं। इन श्लोकों में सृष्टि-विकास के छत्तीस तत्त्वों का स्वरूप वर्णन किया गया है। इस लघु ग्रन्थ में सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों के विषय में अतिसंक्षिप्त ढंग से पर्याप्त जानकारी दी गई है। ग्रन्थ का नाम ही है 'षटत्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' अर्थात् छत्तीस तत्त्वों का सार। यह ग्रन्थ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह अति संक्षेप में काश्मीर शैव दर्शन में प्रतिपादित सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का प्रामाणिक एवं शास्त्रीय विवरण प्रदान कर देता है। इस ग्रन्थ के लेखक के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है। इस पर श्रीमद्राजानक आनन्द कवि का लिखा विवरण (भाष्य) प्राप्त होता है।

काश्मीर शैव शास्त्र का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि बिना इसके भारतीय सांस्कृतिक एवं दार्शनिक परम्परा का ज्ञान अधूरा एवं एक पक्षीय ही रह जायेगा। इस परम्परा के ग्रन्थों का स्वयं अध्ययन करना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है इसे दूसरों को भी पढ़ने के लिए प्रेरित करना। सम्पूर्ण शास्त्र संस्कृत भाषा में है तथा परम्परा में प्रचलित शास्त्रों का अनुवाद एवं व्याख्या करना तथा दूसरों के समझने लायक शैली में उसे प्रस्तुत करना अत्यन्त ही आवश्यक है तथा मैं समझता हूँ कि काश्मीर शैव-दर्शन के अध्येता का यह परम पुनीत कर्तव्य है। काश्मीर शैव-शास्त्र का अनुवाद एवं व्याख्या करने का कार्य अनेक लोगों द्वारा किया गया है। कुछ ग्रन्थों के अंग्रेजी तथा हिन्दी अनुवाद प्रकाशित भी हो चुके हैं तथा बहुत से लोग इस दिशा में प्रयत्नशील भी हैं। इस सन्दर्भ में कठिनाई यह है कि जो भी अनुवाद एवं व्याख्या प्राप्त हैं वे अधिकतर केवल शाब्दिक अनुवाद हैं अथवा संस्कृत भाषा के

विद्वानों द्वारा शास्त्रीय दृष्टि से ही किये गये हैं। उनमें दार्शनिक अन्तर्दृष्टि का सर्वथा अभाव पाया जाता है। वास्तविक कठिनाई यह है कि संस्कृत के विद्वानों में आधुनिक दर्शन की विद्या के ज्ञान का अभाव पाया जाता है तथा आधुनिक दार्शनिक विद्या में पारंगत लोगों में संस्कृत भाषा तथा परम्परागत ज्ञान का अभाव पाया जाता है। अब आवश्यकता इस बात की है कि जो भी अनुवाद एवं व्याख्या प्रस्तुत की जाय उनमें दोनों ही प्रकार की विधाओं का समन्वय हो तभी वह प्रयास सार्थक माना जायेगा। षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह की प्रस्तुत व्याख्या इसी दिशा में किया गया एक प्रयास है।

पुस्तक के प्रस्तुतीकरण में सबसे पहले मूल कारिकायें दी गई हैं फिर राजानक आनन्द कवि का विवरण दिया गया है, इसके पश्चात् कारिका का अनुवाद, फिर विवरण का अनुवाद, तत्पश्चात् व्याख्या दी गई है। व्याख्या में कारिका एवं विवरण का भावार्थ बताने के साथ ही आवश्यकतानुसार उनका दार्शनिक विवेचन भी किया गया है। इस दार्शनिक विवेचन में हमने अपनी पूर्व की प्रकाशित पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त' के अंशों का आवश्यकतानुसार तथा सन्दर्भानुसार उपयोग किया है।

इस पुस्तक के प्रणयन में परोक्ष तथा अपरोक्षरूप से प्रेरित करते रहने के लिए मैं प्रो० कमलाकर मिश्र, प्रो० रेवती रमण पाण्डेय तथा डॉ० राजदेव दूबे के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। यह पुस्तक मेरे तृतीय पुत्र अभिनव मिश्र को सस्नेह समर्पित है।

कैलाश पति मिश्र
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

अनुक्रमणिका

विषय-क्रम | पृष्ठ संख्या

भूमिका

ऐतिहासिक दृष्टि से शैव धर्म-दर्शन अति-प्राचीन है। हड़प्पा और मोहनजोंदड़ो की खुदाई में प्राप्त लिंग और योनि के चिन्हों से इसकी प्राचीनता का अनुमान किया जा सकता है। लिंग और योनि की पूजा.शिव और शक्ति के प्रतीक के रूप में हजारों वर्ष पूर्व से भारत में होती रही है और आज भी यह उसी रूप में प्रचलित है। यह प्रतीक शैव धर्म में विशेष महत्व रखते हैं। इन प्रतीकों की अति प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष के रूप में प्राप्ति से शैव धर्म के दार्शनिक स्वरूप के विषय में यद्यपि कुछ पता नहीं लग पाता किन्तु यह असंदिग्ध है कि उस काल में शैव धर्म किसी न किसी रूप में प्रचलित अवश्य था। इसके अतिरिक्त शैव धर्म की प्राचीनता का संकेत वेदों से भी मिलता है। ऋग्वेद में शिवलिंग की उपासना का उल्लेख है।[१] शिव के विभिन्न नामों का उल्लेख चारों वेदों में मिलता है। इन नामों में रुद्र तथा पशुपति का विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। रुद्र और त्र्यम्बक का संकेत तो कुछ ऋचाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है।[२] ऋग्वेद के दशम् मण्डल में ऋषियों के एक सम्प्रदाय के सदस्यों का विवरण है, जिनके विषय में कहा गया है कि वे पिङ्गल वस्त्र धारण करते थे तथा यहाँ वहाँ अर्द्धनंग अवस्था में घूमते रहते थे।[३] उनके विषय में यह भी कहा गया है कि वे मद्यपान भी करते थे। इस प्रकार के वर्णनों को शैव संन्यासियों का वर्णन माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामवेद, शुक्ल, यजुर्वेद आदि में रुद्र की प्रार्थना में कहे गये छन्दों का विवरण मिलता है। इन विवरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि शैव धर्म वैदिक काल में प्रचलित था। एक मत के अनुसार शिवोपासना को आर्यों से सम्बन्धित न मान कर मूलत: व्रात्यों से सम्बन्धित माना जाता है। इस मान्यता के अनुसार व्रात्यों को आर्यों से भिन्न माना जाता है। व्रात्यों के विषय में यह स्पष्ट नहीं है कि वे यहीं के मूल निवासी थे अथवा विदेशी थे जो कालान्तर में भारत आकर बस गये थे। अथर्ववेद में 'व्रात्य' की प्रशंसा में एक अध्याय ही है। ऐसा माना जाता है कि व्रात्यों का

---

१. शिश्नदेवा:,ऋग्वेद, ७/२२/५.

२. इमा रुद्राय तपसे, इमा रुद्राय शतधन्विने, त्र्यम्बक यजामहे, आदि।

३. ऋग्वेद, १०/१३६.

वर्ग वैदिक लोगों के वर्ग से अलग अथवा भिन्न था। ऐसा हो सकता है कि शैव धर्म प्रारम्भ में व्रात्यों की संस्कृति से सम्बन्धित रहा हो तथा कालान्तर में इसे आर्यों ने भी स्वीकार कर लिया हो। इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

शैव धर्म का दार्शनिक स्वरूप आठ सम्प्रदायों, मतवादों अथवा सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुआ। शैव धर्म के ये सम्प्रदाय हैं — पाशुपत, लकुलीश-पाशुपत, नन्दिकेश्वर, रसेश्वर, शैव-सिद्धान्त, वीर शैव, विशिष्टाद्वैत (श्रीकण्ठ) तथा काश्मीर शैव दर्शन। काश्मीर शैव दर्शन की परम्परा में प्रचलित एक मान्यता के अनुसार भगवान शिव ने शैव-शास्त्र के प्रचार के लिए महामुनि दुर्वासा को आदेश दिया। भगवान शिव से आदेश प्राप्त कर महामुनि दुर्वासा ने तीन मानस पुत्रों (शिष्यों)— त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को उत्पन्न किया तथा शैव शास्त्र का समस्त रहस्य उनमें संक्रमित कर उन्हें उसके प्रचार के लिए नियुक्त किया। अद्वैतवादी शिक्षा उन्होंने त्र्यम्बक को दी जिसने इसका प्रचार किया। काश्मीर शैव दर्शन इसी अद्वैतवादी शिक्षा पर आधारित है।

काश्मीर शैव दर्शन के स्रोत शैवागम हैं। वेदों के समान शैवागमों का उद्भव भी शैव अनादिकाल से ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि शैवागमों के उद्भव जैसी कोई तिथि नहीं है क्योंकि वे स्वयं भगवान शिव द्वारा प्रकाशित हैं, काल-क्रम से केवल उनके लोक-प्रकाशन का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। शैवागमों को शिव का प्रकाशन अथवा रचना मानने अथवा कहने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं आती क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार वाणी अपने परा स्तर पर शिव के साथ अविभाज्य अवस्था में रहती है, जो अपने विकास के वैखरी स्तर पर बाह्य प्रकट होती है। दूसरे, यदि शैवागम शिवज्ञान प्राप्त मुक्त पुरुष की रचना हैं तो भी उन्हें शिव की ही रचना कहा जायेगा, क्योंकि शिवज्ञान प्राप्त व्यक्ति शिव रूप ही कहा जाता है। वैसे तो काश्मीर शैवागमों की संख्या चौसठ बताई जाती है किन्तु इनमें प्रमुख हैं— मालिनीविजयोत्तर तंत्र, स्वच्छन्द तंत्र, विज्ञानभैरव, नेत्र तन्त्र, स्वायम्भुव तंत्र, रुद्रयामल तंत्र, नैश्वास तन्त्र, आनन्द भैरव और उच्छुष्म भैरव तथा मृगेन्द्र आगम।

काश्मीर शैव दर्शन तीन सम्प्रदायों के रूप में पल्लवित एवं पुष्पित हुआ अथवा यह कहा जा सकता है कि तीन सम्प्रदायों का समन्वित नाम है काश्मीर शैव दर्शन।

काश्मीर शैव दर्शन के तीन सम्प्रदाय हैं— क्रम, कुल (अथवा कौल) एवं प्रत्यभिज्ञा। इन तीनों सम्प्रदायों की अपनी-अपनी परम्परा, अपना अपना साहित्य तथा अपनी-अपनी दार्शनिक एवं साधनागत विशेषताएँ हैं। कालान्तर में अभिनवगुप्त ने अपने दार्शनिक ग्रन्थों में तीनों ही परम्पराओं के दार्शनिक चिन्तन को आत्मसात कर उनका समन्वित रूप प्रस्तुत किया। फलतः प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय को, जिसके आचार्य अभिनवगुप्त थे, ही काश्मीर शैव दर्शन कहने अथवा समझने का प्रचलन हो गया। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय को त्रिक दर्शन भी कहा जाता है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में इसे 'त्रिक' दर्शन से अभिहित किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन को 'त्रिक' कहने के अलग-अलग कारण बताये जाते हैं। एक व्याख्या के अनुसार यह दर्शन चौसठ शैवागमों में से तीन आगमों को विशेष रूप से आधिकारिक मानता है - मालिनी, सिद्ध तथा नामक आगम। दूसरी व्याख्या के अनुसार यह तीन प्रकार की 'त्रयी' का विशेषरूप से प्रतिपादन करता है — शिव शक्ति तथा दोनों का सामरस्य; शिव, शक्ति तथा नर; एवं परा, अपरा तथा परापरा शक्ति। तीसरी व्याख्या के अनुसार यह सत्य के तीन रूप का प्रतिपादन करता है— अभेद, भेदाभेद तथा भेद। चौथी व्याख्या के अनुसार प्रत्यभिज्ञा दर्शन तीन प्रकार के साहित्य का समन्वित रुप है— आगम शास्त्र, स्पन्द शास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र।

क्रम दर्शन का सम्प्रदाय के रूप में आविर्भाव सातवीं शताब्दी के अन्त में अथवा आठवीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है। शिवानन्द को इस सम्प्रदाय का प्रथम आचार्य माना जाता है। शिवानन्द ने तीन नारी तपस्विनियों को दीक्षित किया— केयूरवती, मदनिका तथा कल्याणिका को। इनके द्वारा दीक्षित लोगों में तीन आचार्य मुख्य हैं— गोविन्दराज, भानुक तथा एरक। गोविन्दराज ने सोमानन्द को दीक्षित किया। भानुक द्वारा चलाई गई परम्परा में उज्जट और उद्भट मुख्य थे। एरक की शिष्य परम्परा नहीं थी। इन्होंने आधिकारिक स्रोतों के माध्यम से अपनी शिक्षा का प्रचार किया। इन आचार्यों के अतिरिक्त ह्रस्वनाथ, भोजराज, सोमराज आदि का नामोल्लेख इस परम्परा में किया जाता है। इस परम्परा के मौलिक आगम हैं— क्रम सद्भाव, क्रमसिद्धि, ब्रह्मयामल, तन्त्रराज भट्टारक तथा इस परम्परा के अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं— क्रमसूत्र, क्रमोदय, पन्चशतिक, सार्द्धशतिक, क्रम स्तोत्र, महानयप्रकाश, महानयपद्धति, क्रमकेलि, देहस्थ देवताचक्र स्तोत्र, क्रमवासना,

ऋजुविमर्शिनी, महार्थमन्जरी, महार्थोदय तथा तन्त्रालोक विवेक।

इस दर्शन को क्रम इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए विकल्प संस्कार के शुद्धीकरण को आवश्यक मानता है तथा यह भी मानता है कि मुक्ति क्रम से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इस दर्शन को अनेक नामों से अभिहित किया गया है, यथा— क्रमनय, अनुत्तरक्रम, अनुपाय-क्रम, देवता-क्रम, महाक्रम, महार्थ-क्रम, औन्तर-क्रम, महार्थ अमहार्थ-नय, महानय, महासार, अतिनय, देवतानय या देवीनय, कालीनय।इन नामों का दार्शनिक महत्त्व है। ये नाम क्रम दर्शन की विशेषताओं का संकेत करते हैं। इसे क्रम कहा जाता है क्योंकि यह सृष्टि आदि के क्रमिक आभास की बात करता है। सृष्टि, स्थिति, संहार आदि क्रमों में संवित् के आभासन के कारण इसे महाक्रम कहा जाता है। जगत् के भेद रूप अथवा क्रम रूप आभासन के बावजूद परमतत्तव का विश्वातीत रूप अक्षुण्ण रहने के कारण इसे अनुत्तर क्रम कहा जाता है। इस दर्शन में सर्वोच्च सत्य को महार्थ कहा गया है, इस कारण इसे महार्थक्रम कहा जाता है। काली को परम तत्त्व के रूप में मान्यता के कारण इसे कालीनय कहा जाता है। सर्वोच्च आध्यात्मिक और यौगिक उपलब्धियाँ प्राप्त कराने के कारण इस दर्शन को अनुपाय क्रम तथा साधना की अवस्थाओं की दिव्यरुपता के कारण इसे देवताक्रम कहा जाता है।

कौल दर्शन के तन्त्रों का काश्मीर में अभ्युदय पाँचवीं सदी में हो चुका था। इस परम्परा के दस आचार्यों का नामोल्लेख तन्त्रालोक में मिलता है। ये हैं— उच्छुष्म, शवर, चण्डगु, मतंग, घर, अन्तक, उग्र, हलहलक, क्रोधी तथा हुलुहुलु। अभिनवगुप्त ने कौल साहित्य की विस्तृत सूचना तन्त्रालोक में दिया है जिसमें से अनेक अब अप्राप्य हैं। ये हैं— कालीकुल, सिद्धयोगीश्वरीमत, मालिनीविजयोत्तर, रत्नमाला, विरावाली, हारदेश, खेचरीमत, योन्यर्णव, सिद्धातन्त्र, उत्फुल्लकमत, निमर्थादशास्त्रम, त्रिशिरोमत, गमशास्त्र, तन्त्रराज, ब्रह्मयामल, माघवकुल, देव्यायामल, कुलक्रमोदय, योगसन्चर, त्रिशिरोभैरव, कुलगह्वर, देवीयामल तथा नित्या तन्त्र। कुलार्णव तन्त्र इस परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। अभिनवगुप्त ने कौल दर्शन की शिक्षा शम्भुनाथ से ग्रहण की थी। परात्रिंशिका इस परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आगमों में इस दर्शन को कुल और कौल दोनों ही कहा गया है। इसे कुल

इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह परमतत्तव शिव को 'कुल' से अभिहित करता है। समग्र विश्व इसी से उद्भूत होता है तथा इसी में विलीन हो जाता है। यह अनुत्तर और अनुत्तरा की एकता है जो शिव और शक्ति का सामरस्य है। इसके विश्वातीत रूप का संकेत करने के लिये परमशिव को अकुल कहा जाता है।

दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आरम्भ काल नवीं शताब्दी ई० माना जाता है। इस परम्परा के आचार्यों में वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त, क्षेमराज तथा महेश्वरानन्द प्रमुख हैं। इस परम्परा का विपुल साहित्य है। इसमें शिवसूत्र, शिवदृष्टि, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, तन्त्रालोक, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् तथा महार्थमञ्जरी प्रसिद्ध हैं। आत्मज्ञान अथवा शिवरूपता की प्रत्यभिज्ञा को मोक्ष मानने के कारण इस दर्शन को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। क्रम, कुल तथा प्रत्यभिज्ञा अलग-अलग सम्प्रदायों के रूप में आरम्भ हुए किन्तु अभिनवगुप्त की कृतियों में उनके विचारों का एकीकरण हो गया। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा दर्शन को ही काश्मीर शैव-दर्शन कहने की परम्परा चल पड़ी।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर शैव-दर्शन के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। शिवदृष्टि में प्राप्त एक विवरण के आधार पर शैव शास्त्रों के आविर्भाव काल का अनुमान किया जाता है। इस विवरण के अनुसार भगवान शिव ने शैव शास्त्र के प्रचार के लिये महामुनि दुर्वासा को आदेश दिया। भगवान शिव से आदेश प्राप्त कर महामुनि दुर्वासा ने तीन मानस पुत्रों (शिष्यों) त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को उत्पन्न किया तथा शैव शास्त्र का समस्त रहस्य उनमें संक्रमित कर उन्हें उसके प्रचार के लिए नियुक्त किया। अद्वैतवादी शिक्षा उन्होंने त्र्यम्बक को दी जिसने इसका प्रचार किया। शिवदृष्टि में आचार्य सोमानन्द ने अपने आपको त्र्यम्बकादित्य की बीसवीं पीढ़ी में बताया है। शिवदृष्टि में सोमानन्द ने स्पष्टतः लिखा है कि वह त्र्यम्बकादित्य के बीसवें वंशज थे। क्योंकि उनके पन्द्रहवें पूर्वज ने ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे उत्पन्न सोलहवाँ पूर्वपुरुष संगमादित्य काश्मीर में आकर बसे थे। संगमादित्य के बाद वर्षादित्य, अरुणादित्य और आनन्द की तीन पीढ़ियाँ और बीतने पर बीसवीं पीढ़ी में सोमानन्द उत्पन्न हुए थे। अतएव आचार्य सोमानन्द के काल से काश्मीर शैवागम के उद्भव का काल निर्णय अनुमान द्वारा किया जा सकता है।

भगवद्गीता-विवरण के अन्त में स्पन्दकारिका के विवृत्तिकार राजानक रामकण्ठ ने अपने आप को मुक्ताकण का अनुज बताया है। राजतरंगिणी से यह भी ज्ञात होता है कि मुक्ताकण काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समकालीन थे। इसके आधार पर रामकण्ठ भी अवन्तिवर्मा के समसामयिक सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त स्पन्द विवृति में रामकण्ठ ने अपने आपको आचार्य उत्पलदेव का शिष्य बताया है। शिवदृष्टि तथा ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में उत्पलदेव को आचार्य सोमानन्द का शिष्य बताया गया है।

इस विवरण के आधार पर आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईसा की समाप्ति के आसपास माना जा सकता है। डॉ० के०सी० पाण्डेय सोमानन्द का काल ८५० ई० मानते हैं।

अब यदि हम परम्परागत रीति से प्रत्येक पीढ़ी के लिये पच्चीस वर्षों की अवधि मान लें तो इस प्रकार रामकण्ठ के प्रगुरु आचार्य सोमानन्द का आविर्भाव आठवीं शती ईस्वी की समाप्ति के आस-पास हुआ होगा और सोमानन्द के चतुर्थ पूर्वपुरुष संगमादित्य उनसे सौ वर्ष पूर्व कश्मीर में बस गये होंगे। संगमादित्य के सोलहवें पूर्वज त्र्यम्बकादित्य इस प्रकार उनसे चार सौ वर्ष पूर्व हुए होंगे। इस तरह यह कहा जा सकता है कि त्र्यम्बकादित्य के लगभग पाँच सौ वर्षों के पश्चात् सोमानन्द उत्पन्न हुए होंगे। एतदनुसार सोमानन्द के बीसवें पूर्व पुरुष त्र्यम्बकादित्य का महामुनि दुर्वासा से शैव शास्त्र की प्राप्ति लगभग तीसरी शती ईसा के बाद किसी समय हुई होगी।

काश्मीर शैव दर्शन के इतिहास में प्रथम ऐतिहासिक नाम वसुगुप्त है, जिसने शैवागमों के विचारों को व्यवस्थित रूप दिया। क्षेमराज की शिवसूत्रविमर्शिनी के अनुसार वसुगुप्त को शिव द्वारा स्वप्न में शिव-सूत्रों की प्राप्ति हुई थी। शिव-सूत्र इस दर्शन के आधार सूत्र हैं। इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

वसुगुप्त की अन्य कृति स्पन्द कारिका है जिस पर अवन्तिवर्मन (८५५-८८३ ई०) के समकालीन भट्ट कल्लट की टीका है। इस टीका के आधार पर डॉ० के० सी० पाण्डेय ने वसुगुप्त का समय ८२५ से ८५० ई० निर्धारित किया है क्योंकि भट्ट कल्लट वसुगुप्त के शिष्य थे। स्पन्द कारिका के अतिरिक्त वसुगुप्त की अन्य कृतियों का भी उल्लेख मिलता है, यथा— स्पन्दामृत, भगवद्गीता पर वासवी टीका, सिद्धान्त चन्द्रिका आदि।

वसुगुप्त के बाद कल्लट(८५५ ई०), रामकण्ठ (दसवीं शती ई० का पूर्वार्द्ध) और भास्कराचार्य का नाम आता है। कल्लट की कृतियाँ— स्पन्द सर्वस्व, तत्त्वार्थचिन्तामणि, स्पन्द सूत्र, मधुवाहिनी हैं। रामकण्ठ की कृतियों में स्पन्द विवरण सारमात्र है तथा भास्कराचार्य की कृतियों में शिव सूत्र वार्तिक, विवेकाज्ञान, ककव्या स्तोत्र आदि हैं।

काश्मीर शैव दर्शन के विकास में दूसरा महत्वपूर्ण नाम सोमानन्द है, जिसने वास्तव में इस दर्शन को अपने शिवदृष्टि में तर्कपूर्ण दार्शनिक रूप दिया। सर्वप्रथम इन्होंने ही मुक्ति के लिए प्रत्यभिज्ञा का आसान मार्ग बताया। उनके पुत्र उत्पल ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका और इसकी वृत्ति लिखी। इससे ही यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहलाने लगा। सोमानन्द का समय नवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया गया है। सोमानन्द की कृतियाँ— शिवदृष्टि विवृति, परात्रिंशिका विवृति हैं।

सोमानन्द के बाद उनके पुत्र और उनके शिष्य उत्पलदेव का नाम आता है जिनका समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया गया है। उत्पलदेव की कृतियाँ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वृत्तिं, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा टीका, स्तोत्रावली, अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वर सिद्धि, ईश्वर सिद्धि वृत्ति, सम्बन्ध सिद्धि, सम्बन्ध सिद्धि वृत्ति तथा सोमानन्द की शिवदृष्टि पर वृत्ति हैं।

उत्पलदेव के बाद उनके पुत्र और उनके शिष्य लक्ष्मणगुप्त का नाम आता है जो महान काश्मीर शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त के गुरू थे। लक्ष्मणगुप्त की किसी कृति का विवरण नहीं मिलता है।

अभिनवगुप्त की रचनाओं में ही काश्मीर शैवदर्शन का परिमार्जित, विकसित रूप प्राप्त है। अभिनवगुप्त का समय डॉ० के० सी० पाण्डेय ने ९५० से ९६० ई० माना है। अभिनवगुप्त की ४४ कृतियों का विवरण मिलता है। जिनमें— ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, तन्त्रालोक, तन्त्रासार, परमार्थसार, परात्रिंशिका विवरण, मालिनी विजय वार्तिक तथा स्तोत्रावली प्रमुख हैं। अभिनवगुप्त के बाद काश्मीर शैव दर्शन के विकास में क्षेमराज, जिनकी कृतियाँ— उद्योत (तन्त्रों पर), प्रत्यभिज्ञाहृदयम् तथा स्पन्दनिर्णय हैं, और महेश्वरानन्द का नाम आता है जिनकी प्रमुख कृति महार्थमञ्जरी है।

षटत्रिंशत्तत्त्वसन्दोह

प्रस्तुत ग्रन्थ में काश्मीर शैव दर्शन द्वारा प्रतिपादित सृष्टि-क्रम के (सृष्टि-प्रक्रिया) के छत्तीस तत्त्वों का अति संक्षिप्त एवं सारगर्भित वर्णन है। यह आर्या छन्द में कारिकाओं के रूप में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के लेखक के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। इस पर राजानक आनन्द कवि द्वारा लिखी गई एक टीका-विवरण है। मूल ग्रन्थ के लेखक के विषय में टीकाकार राजानक आनन्द कवि भी कोई जानकारी प्रदान नहीं करते। संभवत: उन्हें भी मूल लेखक का नाम ज्ञात नहीं रहा होगा। विवरणकार के विषय में भी विद्वानों में मतभेद पाया जाता है क्योंकि कश्मीर के इतिहास में इस नाम के चार व्यक्तियों के होने की बात मिलती है। सिद्ध सोमानन्द के पिता का नाम भी आनन्द था, जिनका समय नवीं शती ई० माना जाता है। इनके द्वारा की गई किसी रचना का कोई विवरण प्रांप्त नहीं होता है। विक्रमाङ्कदेवचरित के अनुसार विल्हण कवि के भाई का नाम भी आनन्द था। इनका समय ग्यारहवीं शती ई० माना जाता है। चतुर्विंशपटल विस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ के टीकाकार का नाम भी आनन्द था। इन तीनों के अतिरिक्त चौथे आनन्द की बात आती है जिन्होंने भगवद्गीता पर आनन्दवर्धिनी टीका लिखी तथा श्री हर्ष के नैषधीयचरितम् पर भी टीका लिखी। इन्हें ही प्रस्तुत ग्रन्थ का टीकाकार माना जाता है।

षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह में सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का विवरण है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से पूर्व काश्मीर शैव दर्शन में प्रतिपादित सृष्टि-प्रक्रिया को अच्छी तरह समझ लिया जाय।

सृष्टि-प्रक्रिया

काश्मीर शैव दर्शन में एक मात्र तत्त्व 'परमशिव' है। वह सब कुछ है। न तो उसके अलावा कुछ है और न ही उससे भिन्न। सृष्टि उसी का आत्म-प्रसार है। उससे ही सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं और फिर उसी में विलीन भी हो जाते हैं। सृष्टि शिव का उन्मीलन मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जब उसकी इच्छा होती है तो

उसी में से वह बाह्य प्रकट हो जाता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार विश्व के बाह्य प्रकट होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह एकदम से बाहर निकल जाता है या उससे अलग हो जाता है, बल्कि यह है कि जो विश्व शिव में अव्यक्त (इच्छारूप) रहता है वह व्यक्त हो जाता है अथवा उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। शिव स्वयं को ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता, इसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है। जगत् सदैव शिवमय बना रहता है।

काश्मीर शैव दर्शन की मूल मान्यता है कि सार्वभौम शक्ति (चिति शक्ति) ही अपनी सृष्टि की इच्छा के प्रभाव से विश्व के असंख्य रूपों में प्रकट होती है। अपनी बाह्य अभिव्यक्ति के पूर्व सिसृक्षा सार्वभौम चेतना के अन्दर उसी प्रकार है जिस प्रकार हमारे विचार अभिव्यक्त होने के पूर्व हमारी चेतना में रहते हैं। एक रस अद्वैत रूप परम चेतना से विश्व वैभिन्य उसी प्रकार प्रकट होता है जैसे मयूराण्ड के रस से रंगवैभिन्य प्रकट होता है।

सामान्यतया सृष्टि के दो प्रकार समझे जा सकते हैं। एक वह जहाँ सृष्टि की अभिव्यक्ति का क्रम होता है। इसका पूर्वापर अनुक्रम सार्वभौम नियम के अनुसार नियति द्वारा निश्चित होता है। इस क्रम को व्यावहारिक दृष्टि से सामान्यत: कारण-कार्य मान लिया जाता है, जैसे बीज से विशालकाय वृक्ष का प्रकट होना। दूसरे प्रकार की सृष्टि इस नियम के विपरीत बिना किसी नियमित अनुक्रम और बाह्य उपादान कारण के हो सकती है, जैसे योगी अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल से महलों, बागों और उसमें रहने वाले प्राणियों सहित सुन्दर नगर बना लेता है। काश्मीर शैव दर्शन जागतिक वस्तुओं में पहले ढंग का कार्य-कारण सम्बन्ध मानता है किन्तु शिव जो जगत् की सृष्टि करता है, वह बाद वाले ढंग का माना जाता है। पहले प्रकार के कार्य-कारण सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य नहीं होता, वह नियत होता है किन्तु दूसरे ढंग के कार्य कारण में कर्ता को पूर्ण स्वातन्त्रय होता है, उसमें नियति नहीं होती। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य में जगत् की रचना करता है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमशिव ही जगत् का मूल कारण है। वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। वह उपादान कारण इसलिए

है कि जगत् उसके भीतर से ही प्रकट होता है अथवा दूसरे शब्दों में, जगत् जिस उपादान का बना है वह चैतन्य (शिव) ही है। शिव निमित्त कारण भी इसलिए है कि जगत् को अपने में से स्वयं ही बनाता है— बनानेवाला भी वही है और बननेवाला भी वही है। जगत् की सृष्टि में शिव की 'स्वतन्त्र इच्छा' ही प्रमुख कारण है। परमशिव अपनी इच्छा के द्वारा लीला के लिए इस विश्व की रचना करता है। जगत् रचना के लिए परमशिव को किसी उपादान या अधिकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कार्य मात्र उसकी इच्छा से संपादित हो जाता है, उसी तरह जैसे योगी अपनी इच्छा शक्ति के बल से बिना किसी उपादान का अवलम्ब लिये मानसी सृष्टि कर लेता है।

जगत् की सृष्टि इच्छा, ज्ञान और क्रिया के तीन स्तरों पर होती है जिसे कुम्भकार के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। घड़े का निर्माण होने के पूर्व सर्वप्रथम कुम्भकार के मन में घड़ा बनाने की इच्छा उत्पन्न होती है, तदुपरान्त उसके मन में घड़े का चित्र बनता है (अर्थात् किस प्रकार के घड़े का निर्माण करना है), यह ज्ञानावस्था है। जब मन में उपस्थित घड़ा कुम्भकार द्वारा बाहर बना दिया जाता है तो यह घड़े की क्रिया अवस्था है। इसी प्रकार सर्वप्रथम शिव में सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न होती है फिर यह इच्छा जगत् के स्वरूप में परिणत होती है जो ज्ञानावस्था है तथा जगत् जब बाहर आभासित होने लगता है तो यह क्रिया-अवस्था है।

यह संसार चैतन्य (शिव) के अन्दर ही स्थित है परन्तु बाह्य प्रतीत होता है। परमशिव सर्वथा स्वतन्त्र है। वह अपनी स्वतन्त्रेच्छा से जगत् का निर्माण करता है। वह संसार को अपने से भिन्न प्रतीत कराता है, जबकि वास्तव में उससे अभिन्न है। जिस प्रकार दर्पण में पदार्थ अवस्थित न रहते हुए भी दिखाई देते हैं। दर्पण उन पदार्थों से अछूता रहता है। शिव भी अपने सृष्टि के पदार्थों से इसी प्रकार अछूता रहता है। अन्तःस्थित अद्भुत शक्ति द्वारा आत्माओं के रूप में प्रकट होता है। परमात्मा ही आत्मा है। अनन्त तथा निर्मल आत्मा ही एक मात्र यथार्थ सत्ता है। यह विश्व का एक मात्र आधार है जिसका स्पन्दन समस्त प्रकार के भेदों का कारण है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से सृष्टि करता

है और स्वयं सृष्टि दशा में अवतीर्ण होता है। असीम होकर भी अपने को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है। सृष्टि करने में उसका कोई प्रयोजन निहित नहीं होता है। सृष्टि तो उसका स्वभाव (स्वातन्त्र्य) है। उसे पञ्चकृत्यकारी कहा गया है। अपनी लीला के लिए परमशिव सृष्टि करता है और स्वयं को बन्धन में डालता है। पर वास्तव में वह बन्धन में या सीमित दशा में भी असीम और परमतत्त्व ही रहता है। उसके स्वरूप में कोई भी वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। सारे परिवर्तन प्रतीति मात्र होते हैं। परमशिव का स्पन्द रूप आनन्द उसके अपने ही परमेश्वरता के विलास का विमर्शरूप है। इस स्वात्म आनन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द में स्पन्दमान रहता है और उसका यह आनन्दस्पन्दन ही विश्व बन जाता है। सृष्टि और प्रलय शिव की क्रीड़ा है जिसे उसके विमर्शरूपता का उन्मेष और निमेष कहा जाता है।

जगत् शिव में से ही बाह्य अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्ति के उपरान्त भी इसका तादात्म्य शिव से बना रहता है। दोनों में अभेद्य एकता है। काश्मीर शैव शास्त्र में शिव और सृष्टि के सम्बन्ध को बताने के लिए सागर और उसकी लहर का दृष्टान्त दिया गया है। कहा गया है कि जिस प्रकार शान्त निस्तरंग महासमुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने अन्तर्गत ही असंख्य लहरों के रूप में आभासित करता है, उसी प्रकार परमशिव अपनी अखण्ड प्रकाशरूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्दरूप इच्छाशक्ति को उल्लसित करके अपने स्वरूप को ही विश्वभाव से आभासित करता है। लहरों के रूप में उल्लसित जल अपने आधार रूप जल संघात से पूर्णतः अभिन्न होते हुए भी तरंग रूपों में भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही विश्वरूप में भासमान प्रकाश अपने स्वरूप अर्थात् आधारभूत महाप्रकाश से सर्वथा अभिन्न होते हुए भी प्रमाता-प्रमेय आदि रूपों में परस्पर भिन्नवत आभासित होता है । वीचित्व विशिष्ट जल और आधारभूत जल में व्यवहार के लिए भेद मानने पर भी वस्तुतः जैसे जलत्व की दृष्टि से कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य और विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी भेद नहीं है। सृष्टि विश्वातीत और विश्वात्मक का ही आत्म प्रकाश है। मूल सत्ता और जगत् के बीच मूलतः (तत्त्वतः) कोई भेद नहीं है, केवल व्यवहार के लिए दो नाम प्रयुक्त हैं। परमशिव से जगत् की अभिन्न एकता को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में परस्पर

पृथक् रूप से प्रतिबिम्बित ग्राम, नगर, नदी, वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी भिन्नवत् अवभासित होते हैं, उसी प्रकार परमशिव अपने स्वातन्त्र्य-माहात्म्य से अपने अन्तर्गत अभिन्न भाव से अवस्थित विश्व वैचित्र्य को भिन्नवत् अवभासित करता है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव और जगत् में तात्त्विक एकता होते हुए भी स्वरूपगत अथवा अवस्था भेद है। जगत् शिवमय अथवा शिवरूप है किन्तु शिव ही नहीं है। शिव सत्य है, किन्तु जगत् को शिव के समान सत्य नहीं माना जा सकता। यदि जगत् भी शिव के समान ही सत्य है तो जगत् की स्वतन्त्र सत्ता होगी और इस प्रकार अद्वैत भंग हो जायेगा। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में जगत् को शिव का आभास माना जाता है। जगत् का शिव से तात्त्विक एकता बताने के लिए कहा जाता है कि जगत् शिव का प्रतिबिम्ब है। यहीं जगत् और शिव का स्वरूप भेद देखा जा सकता है। प्रतिबिम्ब परोक्ष रूप से बिम्ब ही है, किन्तु प्रतिबिम्ब सर्वथा बिम्ब ही नहीं है। बिम्ब वास्तविकता है तथा प्रतिबिम्ब आभास है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब तात्त्विक दृष्टि से बिम्ब ही है किन्तु सत्ता की दृष्टि से आभास है, उसी प्रकार जगत् तात्त्विक दृष्टि से शिव ही है किन्तु सत्ता की दृष्टि से शिव का आभास है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति छत्तीस तत्त्वों के रूप में होती है। सृष्टि के तत्त्वों की यही संख्या काश्मीर शैव दर्शन में मान्य है किन्तु जब शिव के पर रूप अथवा अनुत्तर रूप को इसमें नहीं गिनते तो इनकी संख्या सैंतीस भी बताई जाती है। अभिनवगुप्त के अनुसार परमतत्त्व (परम शिव) हमारी बुद्धि के परे है, अतः उसके विषय में जो कुछ हम समझते हैं, वह हमारी समझ है, परमशिव उससे परे है। हम तत्त्व को शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में समझते हैं किन्तु शिव वस्तुतः इसके परे होने के कारण सैंतीसवाँ है। ये तत्त्व परमतत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसलिये ये मूलतः परमतत्त्व के तदनुरूप ही हैं। प्रत्येक तत्त्व की दो अवस्थितियाँ होती हैं। यह विश्व को व्याप्त भी करता है और विश्व के अंगों का निर्माण कार्य भी संपादित करता है। इन तत्त्वों का सम्बन्ध परमतत्त्व से सदैव बना रहता है। ये न तो शिव से ही अलग हैं और न एक दूसरे से, प्रत्युत् प्रत्येक तत्त्व में सभी तत्त्व उपस्थित हैं। विश्व की आभास-रूपता में

तत्त्वों का यह क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है। जिस तरह उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्वों को अपने में सन्निहित किये रहते हैं उसी तरह निम्नतर तत्त्व भी अपने सभी उच्चतर तत्त्वों को समाहित किये रहते हैं।

शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा अथवा शुद्ध सृष्टि कही जाती है। शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने स्वरूप का अन्यथा ज्ञान नहीं रहता। वहाँ शुद्ध संवित् स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है। शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अभेद भाव की अनुभूति बनी रहती है। इन पाँच तत्त्वों तक की इस शुद्ध सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है। शुद्ध अध्वा के बाद माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक की सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है। इसे अशुद्ध सृष्टि अथवा मायीय सृष्टि भी कहा जाता है। माया के मलों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्वा को अशुद्ध सृष्टि कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में माया को भेद-धी अर्थात् भेद-बुद्धि कहा गया है। इसलिये माया का प्राधान्य होने के कारण अशुद्ध अध्वा में भेद-ज्ञान का प्राधान्य रहता है। माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर आत्म सीमित हो जाता है। अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को भूल कर आत्मा को चिद्रूप न समझकर शरीर को ही आत्मा समझने लगता है। इस प्रकार अपने को सीमित अनुभव कर दुखी होने लगता है। उसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप का स्मरण नहीं रहता। अपने को सबसे पृथक् अनुभव करने लगता है। इस प्रकार से ग्राह्य ग्राहक भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ही उत्तरवर्ती सृष्टि अशुद्ध सृष्टि अथवा अशुद्ध अध्वा कहलाती है।

सृष्टि के छत्तीस तत्त्व, जिनकी विवेचना प्रस्तुत ग्रन्थ में की गई है, निम्नलिखित हैं:—

१. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्ध विद्या, ६. माया, ७. कला, ८. विद्या, ९. राग, १०. काल, ११. नियति, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४. बुद्धि, १५. अहंकार, १६. मनस, १७. श्रोत्रेन्द्रिय, १८. त्वचा, १९. चक्षु, २०. जिह्वा, २१. घ्राणेन्द्रिय, २२. वाक् इन्द्रिय, २३. पाणि, २४. पादेन्द्रिय, २५. पायु (मल त्याग करने वाली इन्द्रिय), २६. जननेन्द्रिय, २७. शब्द, २८. स्पर्श, २९. रुप, ३०. रस, ३१. गन्ध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. अग्नि (तेज), ३५. जल, ३६. पृथ्वी।

प्रस्तुत ग्रन्थ को अच्छी तरह समझने के लिए ग्रह आवश्यक है कि सृष्टि के छत्तीस तत्त्वों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण जान लिया जाय ।

१. शिव तत्त्व :- परमशिव का सृष्टि के लिए उन्मुख विश्वमय रूप शिव तत्त्व से अभिहित होता है। स्वतन्त्र चिद्घन संवित्स्वभाव परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही आभासरूप से अर्थात् पारमार्थिक कारण-कार्य भाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्व रूप में अवभासित करने की इच्छा करता है तब उसकी विश्वोन्मीलन की उस आद्या इच्छा अवस्था को ही शिव तत्त्व कहा जाता है। शिव तत्त्व परमशिव का प्रथम स्पन्द है। इस तत्त्व में चित् शक्ति का प्राधान्य रहता है। यह शुद्ध 'अहम्' के अनुभव की अवस्था है। इस अवस्था से सम्बन्धित विषयी शाम्भव कहलाते हैं। इस अवस्था में प्रमेय का सर्वथा अभाव रहता है। शिव तत्त्व को ही परा संवित्, परमेश्वर, शिव या परमशिव भी कहा जाता है। यह देश और काल से अतीत (परे) है फिर भी सभी देशों और कालों में एक रूप में वर्तमान है। यह विश्वमय और विश्वातीत दोनों है। समस्त विश्व इस तत्त्व का अभिन्न रूप है।

२. शक्ति तत्त्व :- शक्ति तत्त्व परमशिव की आभासरूपता में दूसरा तत्त्व है जो शिव का अभिन्न स्वरूप है। प्रकाशात्मा शिव का विमर्श स्वरूप ही शक्ति तत्त्व है। दोनों में अभिन्न एवं अविनाभाव सम्बन्ध है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार वाह्योन्मुख परमशिव की उन्मुखतारूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है। शिव और शक्ति अभिन्न हैं। वास्तव में दोनों का भेद मात्र व्यावहारिक स्तर पर अथवा व्यवहार की दृष्टि से किया जाता है। काश्मीर शैव शास्त्र में कहीं शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है तो कहीं-कहीं शक्तितत्त्व को भी परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है। आचार्य क्षेमराज ने 'परा प्रावेशिका' में शक्ति तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा है। षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह में शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है। अभिनवगुप्त ने शिवतत्त्व को परमशिव की 'प्रथम तुटि' तथा शक्ति तत्त्व को परमशिव की 'द्वितीय तुटि' कहा है। वास्तव में प्रथम स्पन्द या द्वितीय स्पन्द का प्रयोग मात्र व्यावहारिक सुविधा के लिये किया जाता है। शिव और शक्ति में किसी भी प्रकार से कोई भी भेद नहीं किया जा सकता। शिव तत्त्व की अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्' होता है। शक्ति तत्त्व की अवस्था में

यह अनुभव 'अहमस्मि' का रूप ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था में आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है। इस अवस्था से सम्बन्धित सत्ताएँ शाक्तज कहलाती हैं।

३. सदाशिव तत्त्व :- सदाशिव तत्त्व शिवाभास के क्रम में तीसरा तत्त्व है। यह शिव के इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम् इदम्' होता है। 'अहम्' शिव का परिचायक है और 'इदम्' विश्व का। इस अवस्था में 'इदम् , अंश अस्फुट रहता है और अहम् अंश का प्राधान्य होने से वह 'इदम्' अंश को आच्छादित किये रहता है। इसलिये यहाँ जगत् का अव्यक्त रूप में भाव होता है। इस अवस्था के अनुभवकर्त्ता 'मन्त्र महेश्वर' कहलाते हैं।

४. ईश्वर तत्त्व :- शिव की इच्छा का बहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्त्व कहलाता है। यह परमशिव के ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था है। इस स्तर पर अनुभव का प्रत्यय 'इदम्-अहम्' होता है। यहाँ 'अहम्' अंश गौण रहता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है। इस स्तर पर क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों की स्थिति मानी गई है, पर यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है। ईश्वर तत्त्व के प्रमाता मंत्रेश कहलाते हैं। जहाँ सदाशिव, शिव और शक्ति के आन्तरिक सम्बन्ध की अवस्था है, ईश्वर उनके वाह्यीकरण की अवस्था है। सदाशिव तत्त्व विश्व के प्रलय अथवा निमेष का द्योतक है, ईश्वर तत्त्व विश्व के उदय या निमेष का परिचायक है। ईश्वर तत्त्व के उन्मेष से ही विश्व का उदय होता है। इस स्तर पर सृष्टि रचना का विचार-स्पष्टतर हो जाता है। इस स्थिति में अनुभव का 'इदम्' पक्ष या ब्रह्माण्ड स्पष्टत: परिभाषित हो जाता है। जिस प्रकार एक कलाकार के मन में जो चित्र उसे बनाना रहता है उस चित्र का सर्वप्रथम धुँधला विचार बस रहता है और बाद में चित्र बनाते समय यह स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सदाशिव स्थिति में ब्रह्माण्ड एक धुँधला विचार होता है, परन्तु ईश्वर की स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है।

५. शुद्ध विद्या तत्त्व :- यह तत्त्व परमशिव के क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था है। इस स्तर पर क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है। इस अवस्था में अनुभव के 'अहम्' और 'इदम्' दोनों रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। अनुभव का प्रत्यय 'अहम् इदमस्मि' रूप होता है। इसमें 'अहम्' और 'इदम्' की बराबर

की स्थिति रहती है। यह स्तर अनुभव की भेदाभेद अवस्था है। यहाँ अहम् और इदम् में तादात्म्य बना रहता है। इस अवस्था में प्रमाता मन्त्र त्राणी या विद्येश्वर कहे जाते हैं। जिस प्रकार परमशिव का बहि: औन्मुख्य शक्ति तत्त्व कहलाता है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का वाह्य औन्मुख्य शुद्ध विद्या तत्त्व कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा अपने आप को शुद्ध संवित् स्वरूप समझता रहता है। यहाँ प्रमाता को अहंता और इदन्ता जैसे दो रुपों का विमर्श होता है, इसलिये उसका विमर्श भेदमय तो है ही, किन्तु 'अहंता' और 'इदन्ता' रूप प्रत्यवमर्श होने पर भी वह प्रमाता 'अहंता' की चिद्रूपता की भाँति इदन्ता को भी चिद्रूप ही समझता है।

६. माया तत्त्व :- भेदावभासन निमित्त परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति पशुत्व से संलग्न होने के कारण माया से अभिहित होती है। इसे परमेश्वर की स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा शक्ति भी कहा गया है। माया तत्त्व अभिव्यक्ति की वह अवस्था है जिसमें विषयी की एकता विविधता में अभिव्यक्त होती है। यहाँ अहम् अंश पुरुष रूप में तथा इदम् अंश प्रकृति रूप में अभिव्यक्त होता है। अचित् में प्रमातृत्व का आभास होने लगता है। इस स्तर पर सार्वभौम आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होता है। परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं। भेद का अवभासन करने के कारण ही यह माया शक्ति कहलाती है। इस स्तर पर माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर अपने स्वरूप को आच्छादित कर 'पुरुष' तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। माया शुद्ध प्रमाता के प्रकाशस्वरूप का तिरोधान कर देती है जिससे वह अनवच्छिन्न प्रकाश रूप से परिच्छिन्न प्रकाशरूप हो जाता है। जो अपनी पूर्णता में शिव था वही संकोच ग्रहण के कारण जीव बन जाता है। भेद-दृष्टिमयी माया के प्रभाव से इस स्तर पर उतरा हुआ शिव अपने प्रमातृ अंश 'अहं' को अपने प्रमेय अंश 'इदम्' से सर्वथा भिन्न समझने लगता है। उसकी अभेद दृष्टि इस अवस्था में सर्वथा छिप जाती है और भेद दृष्टि से देखता हुआ शुद्ध 'अहं' रूपी अपनी संवित् स्वरूपता को भूल जाता है और अपने आप को संकुचित् संवित् के रूप में समझने लगता है तथा अपने प्रमेय अंश 'इदम्' को अपने से सर्वथा भिन्न अचेतन मानने लगता है।

७. कला :- माया से क्रमश: कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष का स्वरूपाच्छादन करने के कारण ये माया के पञ्चकञ्चुक

कहलाते हैं। ये तत्त्व परिमित शक्तियाँ हैं। माया जनित ये तत्त्व जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत किये रहने के कारण आवरण कहलाते हैं। इन संकुचित शक्तियों से अपूर्णता में आबद्ध होने के कारण इन कंचुकों को जीव का बन्धन या पाश भी कहा जाता है। परमशिव सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक असंकुचित शक्ति संपन्न होता हुआ भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति इन पाँच कञ्चुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है। इन्हीं पाँच कञ्चुकों के कारण क्रमशः परमशिव के उपर्युक्त गुणों में भी संकोच हो जाता है। इसलिये कुछ ही करने का सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान 'पुरुष' को अपने में होने लगता है। कला तत्त्व माया का प्रथम उत्पादन है। यह आत्मा के सर्वकर्तृत्वस्वरूप को आच्छादित कर देती है। तदनन्तर जीव को परिमित कर्तृत्व का अनुभव कराती है। इस अवस्था में कुछ करता हूँ, का अनुभव होने लगता है। कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है। कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है अर्थात् विद्या, राग, काल, नियति की उत्पत्ति कला से ही होती है। माया प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़-सा बना देती है। पर पूर्ण जड़त्व से काम भी नहीं चल सकता अतः काम चलाने के लिए थोड़ा-सा चेतना का अंश भी दे देती है। वह चेतना का अंश उसे कुछ-कुछ करने की शक्ति प्रदान करता है। यह कला तत्त्व है जो आत्मा के लिए क्रियाशक्ति एकत्रित करता है।

८ **विद्या :-** विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है, जो सर्वज्ञता के स्थान पर सीमित ज्ञातृता को उत्पन्न करती है। इसके संसर्ग से परमप्रकाश स्वरूप परमेश्वर की सर्वज्ञ शक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति संकुचित हो जाती है। विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है, जो सर्वज्ञता के स्थान पर सीमित ज्ञातृता को उत्पन्न करती है। सीमित ज्ञान का कारण होने से इसे विद्या कहा जाता है। इसके प्रभाव से जीव कुछ ही जान सकता है। वह प्रमेयों को अपने से पृथक् समझने लगता है।

९. **राग :-** राग तत्त्व पूर्णत्व को परिमित करके पुरुष में इच्छा या कामना का उदय करता है। माया से स्वरूप संकोच हो जाने के कारण मितात्मा समस्त विश्व को आत्मभाव से न देखकर शरीर जैसी वस्तु को 'अहम्' (मैं) अथवा मम (मेरा) समझता है तथा उसे अत्यन्त गुणशालिनी मानने लगता है। मितात्मा के देह

आदि प्रमातृभाव और प्रमेय में इस तरह के गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहते हैं। राग व्यक्तियों में विषय के लिए लालसा उत्पन्न करता है। शाश्वत संतुष्टि के अनुभव के बदले यह आत्मा में काल की सीमितता को उत्पन्न करता है। इसके कारण शाश्वत क्षणिक प्रतीत होता है। यह राग तत्त्व मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरंजित करता है। वास्तव में यह मायीय प्रमाता को पुरुष तत्त्व के रूप में प्रकट करने वाला एक संकोचक तत्त्व है।

१०. काल :- काल तत्त्व चिदात्मा के नित्यत्व स्वरूप को संकुचित कर उसे काल-क्रम की सीमा में डालकर परिमित कर देता है। पूर्ण एवं नित्य चिदात्मा भूत, भविष्य तथा वर्तमान के क्रम में आबद्ध हो जाता है तथा तदनुरूप उसे अनुभव होने लगता है। उसका अनुभव अब क्रमिक अथवा पौर्वापर्य रूप होने लगता है। इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही 'काल शक्ति' कही जाती है। मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ अथवा अमुक वस्तु मुझे पूर्व ज्ञात थी, जानता हूँ तथा जानूँगा आदि नाना प्रकार की कल्पनाएँ काल तत्त्व के द्वारा ही हुआ करती हैं।

११. नियति :- नियति तत्त्व परम स्वातन्त्र्य एवं व्यापकत्व को सीमित कर एक निश्चित नियमितता का प्रसार करता है। इसके अनुसार एक निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की प्राप्ति हो सकती है, यथा अग्नि से ही धूम रूपी कार्य का निकलना हो सकता है। इस प्रकार जिस पुण्या-पुण्य से आत्मा का नियमन होता है वही इसका नियति तत्त्व है। नियति वह शक्ति है जो विषयी की कारणात्मक क्षमता को सीमित करती है। यह सीमित कर्ता के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है। नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है। यह मूलतः सबकी नियामिका है। इसी के नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य बना रहता है।

१२. पुरुष तत्त्व :- शिव का अपने स्वातन्त्र्य भाव से परिगृहीत परिमित भाव ही पुरुष तत्त्व है। इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाता है और अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है। वास्तव में जब परमतत्त्व माया और इसके पञ्चकञ्चुकों के प्रभाव से सीमित विषयी का रूप ग्रहण कर संसारी हो जाता है तो इसे पुरुष कहा जाता है। परमशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अपने परिपूर्ण स्वभाव को छिपाकर सर्वज्ञता

और सर्वकर्तृता को भूल जाने की कल्पना कर डालता है और ऐसा हो जाने पर अपने आपको अगणित अल्पज्ञ और अल्पकर्ता जीवों के रूप में प्रकट कर देता है। पुरुष तत्त्वत: शिव ही है किन्तु माया के तिरोधानकारी प्रभाव से अपने स्वरूप को भूल कर परिमित जीव बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानवश अपने को बन्धन में डाल देता है। जब तक उसे शिव भाव के स्वातन्त्र्य का बोध नहीं होता तब तक वह अनेकानेक जीव योनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख आदि को भोगता रहता है। आत्मस्वभाव की पूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है। पुरुष अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नाम ग्रहण करता है। जब यह शरीर आदि से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, यह देह प्रमाता कहलाता है। जब यह विश्व के किसी विषय के सम्बन्ध से स्वतन्त्र रहता है, जैसे प्रलय में तो इसे प्रलयाकल कहा जाता है। जब यह कर्म से स्वतन्त्र रहता है, इसे विज्ञानाकल कहा जाता है। कञ्चुक रूपी पाशों से आबद्ध होने के कारण जीव को पशु भी कहा गया है। पुरुष तत्त्व संकुचित, 'अहं' का नाम है। यह अणु, जीव, पुमान, मितात्मा, पुद्‌गल आदि विविध नामों से अभिहित किया जाता है।

१३. प्रकृति :- परमशिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्य रूप विश्व का अविभक्त सामान्य रूप है उसे प्रकृति तत्त्व कहा जाता है। यह सत्त्व, रजस और तमस की साम्यावस्था है। महत् तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। शून्य आदि प्रमाता के अपने आप से व्यतिरिक्त वेद्यरूप वाले प्रकृति तत्त्व से कार्य और कारण भाव से तेईस प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है। परन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जिस प्रकार पुरुष जगद्-उन्मेष रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्मकल्पना है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्य कल्पना है।

१४. बुद्धितत्त्व :- मूल प्रकृति में क्षोभ के फलस्वरूप गुणों में विषमता आ जाती है। अपने परिणाम-क्रम में प्रकृति सर्वप्रथम अन्त:करणों के रूप में प्रकट होती है। अन्त:करणों में सबसे पहले सत्त्व गुण प्रधान महत् तत्त्व प्रकट होता है। इसी तत्त्व को बुद्धि तत्त्व कहा जाता है। यह एक स्वच्छ जड़ तत्त्व होता है। अपनी स्वच्छता

के प्रभाव से यह अगली सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को धारण कर सकता है। प्रमाता के प्रतिबिम्ब को धारण करने से यह चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है और चेतन की तरह काम करने लगती है। यह अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करती है। बुद्धि ही प्रतिबिम्बित विषय के नाम रूप की कल्पना करती है। प्रमेय को प्रकाशित करके तथा नाम रूप की कल्पना करके यह ज्ञान का साधन बनती है। बुद्धि ही पुरुष का सबसे प्रधान और निंकटतम करण तत्त्व है।

१५. अहंकार :- विषय के प्रतिबिम्ब के सविकल्प या निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली उसकी शक्ति अहंकार कहलाती है। 'यह मेरा है' 'यह मेरा नहीं है' इस प्रकार अभिमान का साधन 'अहंकार' तत्त्व है। निश्चित या अनिश्चित दोनों प्रकार के प्रतिबिम्ब बुद्धि दर्पण में पड़े रहते हैं। परन्तु अहंकार के प्रभाव से जीव यह समझता है कि इन्हें मैं जानता हूँ। इसी प्रकार से बुद्धि या शरीर या प्राण की क्रियाओं के विषय में जीव को यह अभिमान होता रहता है कि 'मैं करता हूँ' अथवा शरीर या प्राण को वह समझने लगता है कि 'मैं हूँ'।

१६. मनस तत्त्व :- विषय ज्ञान के सन्दर्भ में जब इन्द्रियों द्वारा चित्त पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है तो सर्वप्रथम किसी वस्तु के होने का आभास मात्र होता है। उस क्षण में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु क्या है। इस प्रकार वस्तुत्व का आभास तो बुद्धि द्वारा हो जाता है परन्तु वस्तु के स्पष्ट और निश्चित नाम रूप की कल्पना नहीं हो पायी रहती। इस प्रकार की अवस्था में मन वस्तु के विषय में अनेकों सम्भाव्यमान नाम रूपों की कल्पना करता है। इस कल्पना की कर्त्री शक्ति को 'मन' कहते हैं। मनस् तत्त्व अहंकार का उत्पादन है। इसके कारण ही 'करुँ या न करुँ' का संकल्प अथवा विकल्प उदित होता है।

१७-२१. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ :- अहंकार के और परिणमित होने पर पाँच ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं श्रोत्र, त्वक् या त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणेन्द्रिय। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशुद्ध विद्या की सहायक कही गयी हैं। पुरुष के संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमतायें हैं जो उसके विभिन्न व्यवहारों की साधन बनती हैं। इनमें से श्रोत्र शब्द तथा समस्त शब्दात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ उसे बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है। श्रोत्र पुरुष के सुनने

की क्षमता है। यह स्थूल शरीर में काल के छिद्र में स्थित होता है। शीत, उष्ण, नम, कठोर आदि स्पर्शों को जानने की पुरुष की क्षमता को अथवा साधन को चक्षु ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। यह ज्ञानेन्द्रिय स्थूल शरीर में नेत्र में स्थित होती है। खट्टा, मीठा, नमकीन आदि स्वाद जान लेने का साधन रसना अथवा जिह्वा है। स्थूल शरीर में इसका स्थान जीभ का अग्र भाग होता है। गन्ध को जान लेने की पुरुष की क्षमता को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं। स्थूल शरीर में यह इन्द्रिय नाक के छिद्रों में स्थित होती है।

२२-२६. पञ्च कर्मेन्द्रियाँ :- पाँच ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति के पश्चात् पाँच कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही, पुरुष कार्य करने में समर्थ होता है। ये कर्मेन्द्रियाँ हैं— वाक् (पाणि, हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) तथा जननेन्द्रिय। वाक् बोलने का साधन है। स्थूल शरीर में इसका स्थान मुख है। इस वाक् की अभिव्यक्ति प्राणवायु के आघात से होती है। इस वाक् को वैखरी वाणी कहते हैं। किसी वस्तु को ग्रहण करने का साधन पाणि है। स्थूल शरीर में इसका स्थान हाथ है। गमन करने, आने-जाने अथवा चलने-फिरने की क्रियाओं का साधन पादेन्द्रिय कहलाता है। स्थूल शरीर में इसका स्थान पैर है। विसर्जन अर्थात् मलत्याग की क्रिया का साधन पायु इन्द्रिय है। स्थूल शरीर में इसका स्थान गुदा होता है। विषय आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रिया का साधन इन्द्रिय उपस्थ कहलाती है। स्थूल शरीर में इसका स्थान जननेन्द्रिय होता है।

२७-३१. पञ्च तन्मात्राएँ :- तमोगुण प्रधान अहंकार के परिणाम स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के पाँच सूक्ष्म विषयों की अभिव्यक्ति होती है। ये विषय अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। इन्हें तन्मात्राएँ कहा जाता है। ये हैं— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध।

३२-३७. पञ्च महाभूत :- ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय जब परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते हैं तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक स्थूल पञ्च महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। आकाश का गुण शब्द है। वायु स्पर्श गुण प्रधान है, अग्नि रूप प्रधान, जल रस प्रधान तथा पृथ्वी गन्ध प्रधान है। आकाश से लेकर पृथ्वी तक क्रम से स्थूलता अधिक होती है। जो महाभूत जितना अधिक स्थूल होता है वह परिमाण में उतना ही अधिक विशाल होता है। सबसे कम स्थूलता आकाश में होती है और उसी का परिमाण सबसे अधिक होता है। सबसे थोड़ा परिमाण पृथ्वी का होता है और सबसे अधिक स्थूलता भी उसी में होती है।

- β

अथ
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः
श्रीमद् राजानकानन्दविरचितविवरणोपेतः

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाखिलमिदं जगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।१।।

इह हि स्वतन्त्राशिवाद्वयदर्शने परमेश्वरः स्वतन्त्राश्चिद्घनसंवित्स्वभावः स्वया स्वातन्त्र्याख्यया शक्त्या सततं शिवादिधरण्यन्ततत्तद्भुवन भूततत्त्वात्मना क्रीडनादिशीलत्वात् कृत्यपञ्चकविधायी, वस्तुतः क्रमराहित्येऽपि विश्वसृष्टौ आभासनमात्रसारेण पारमार्थिककार्यकारणभावेन क्रममपि उद्भावयन्, अनाख्यत्वेऽपि स्वेच्छयैव स्वात्मभित्तौ तत्तच्छिवादितत्त्वाभिख्याम् अवभासयति। तथात्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वमयकुलस्वरूपपरामर्शनात् आखण्ड्येन विश्वभरितां स्वचमत्कारविमर्शसाराम् अनुत्तरानन्दघनावस्थां नोज्झति, इति, वास्तवाशयावबोधनाय काश्चिन्महामाहेश्वरः परमेशशक्ति पातानुगृहीतः तत्त्वक्रमप्रक्रियाम् आर्याभिरेकविंशत्या समुपनिबबन्ध, -यदयमित्यादिना।

अनुत्तरमूर्तेर्भगवतः परमेश्वरस्य प्रकाशघनस्वात्मैकात्म्येन अवस्थितं विश्वं सिसृक्षोःदर्पणनगरवत् स्वेच्छयैव स्वात्मनि आद्या प्रोन्मिमीलयिषावस्था शिवतत्त्वव्यपदेश्या पञ्चशक्ति- निर्भरत्वात् स्वातन्त्र्यात् चिदादिप्राधान्येन क्रमशः शुद्धाध्वनि तत्त्वसृष्ट्यवभासनम्, मायाविद्यादेः संवित्प्रकाश-घनपरमशिवात् व्यतिरेकानतिरेकविकल्पैरुपहतत्वात् स्वातन्त्र्यमेव केवलं विश्वोत्पत्तिसंहरणादौ मूर्धाभिषिक्तंतत्तदनन्तशक्तिनिचयानां क्रोडीकारित्वात्, वक्ष्यमाणेऽपि तत्तद्रूपोपग्रहणे स्वातन्त्र्या- मुक्तत्वान्न प्राच्यस्वभावापायः।।१।।

अनुत्तर (विश्वोत्तीर्ण-पर) रूप (परमशिव) स्वेच्छा से जब इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करने के लिए स्पन्दमान (क्रियोन्मुख) होता है तो उसका प्रथम

स्पन्द (सृष्टिक्रिया की प्रथम अभिव्यक्ति) को शास्त्रज्ञों द्वारा शिव तत्त्व कहा गया है।।१।।

यहाँ स्वतन्त्रशिवाद्वयदर्शन में परमेश्वर (जो) स्वतन्त्र, चिद्घन (चित् से घनीभूत), संवित् स्वभाव वाला (चैतन्य रूप) है, अपनी स्वातन्त्र्य (नामक) शक्ति द्वारा निरन्तर शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त विभिन्न भुवनों का निर्माण करने वाले तत्त्वों को अपने क्रीड़ा रूप पञ्चकृत्य को करते रहने वाले स्वभाव से, वास्तव में क्रम से रहित होते हुए भी आभास रूप विश्व की सृष्टि पारमार्थिक कार्य-कारण भाव से क्रम में करते हुए, अनिर्वचनीय होते हुए भी, स्वेच्छा से आत्म-भित्ति पर (अपने आप में) उन शिवादि तत्त्वों को अवभासित करता है। ऐसा होते हुए भी ('अर्थात्) छत्तीस तत्त्वमयी कुल स्वरूप (जगत्) का परामर्श (सृष्टि-अभिव्यक्ति) अपने चमत्कार (शक्ति) के विमर्श के सार रूप में अखण्ड भाव से करते हुए अपने अनुत्तर (पर रूप) आनन्दघन की अवस्था को नहीं छोड़ता है । ऐसे (इस प्रकार के) आशय (तात्पर्य) का अवबोधन (बताने के लिए) कराने के लिए परमेश्वर के शक्तिपात का अनुग्रह प्राप्त करने वाले किसी माहेश्वर ने (महेश्वर के अनुयायी ने अर्थात् शैव ने) तत्त्वक्रम की प्रक्रिया (सृष्टि-क्रम) को इक्कीस आर्या (छन्दों) में निबद्ध किया, जो यह है।

अनुत्तर रूप (विश्वातीत) परमेश्वर (परमतत्त्व) की, जो प्रकाश रूप है, उनमें एकात्म (अभेद) भाव से स्थित विश्व-सृष्टि की इच्छा दर्पण में स्थित नगर के समान स्वेच्छा से ही अपने आप में उन्मीलित आद्या अवस्था शिव तत्त्व से अभिहित होती है, पञ्चशक्ति के द्वारा स्वातन्त्र्य से चिदादि (चित् आदि) शक्तियों के प्राधान्य से शुद्ध अध्वा की तत्त्व-सृष्टि का अवभासन होता है, माया, विद्या आदि संवित् प्रकाश रूप परमशिव से भेदाभेद सम्बन्ध में होने से केवल स्वातन्त्र्य (शक्ति) को विश्व की सृष्टि-संहार आदि के सम्पादन में सर्वोच्च माना गया है— अनन्त शक्तियों वाला होते हुए तथा उनका रूप ग्रहण करते हुए भी वह अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव (परमतत्त्व रूप) से रहित (च्युत अथवा पृथक्) नहीं होता।।१।।

व्याख्या :- प्रथम कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव जब सृष्टि करने

की इच्छा करता है अर्थात् जगत् को अभिव्यक्त करता है तो उस अभिव्यक्ति क्रम का पहला तत्त्व शिव कहा जाता है। परमशिव को इस कारिका में अनुत्तर अर्थात् विश्वातीत कहा गया है। परमशिव की सृष्टि-क्रिया को उसका स्पन्द कहा गया है। टीकाकार ने इस दर्शन (काश्मीर शैव दर्शन) को स्वतन्त्रशिवाद्वयदर्शन कह कर शिव के स्वातन्त्र्य तथा उसके अद्वैत रूप पर विशेष आग्रह किया है। टीकाकार ने एक तरफ यह कहा है कि शिव अपने स्वातन्त्र्य शक्ति से सृष्टि करता है अर्थात् वह सृष्टि करने में पूरी तरह स्वतन्त्र है, दूसरी तरफ यह कहा है कि पञ्चकृत्य करते रहना, जिसमें कि सृष्टि भी एक कृत्य है, परमशिव का स्वभाव है। परमशिव अक्रम है, वह अक्रम में ही क्रम का (जगत्-क्रम का) अवभासन करता है। विश्व का और परमशिव का ऐकात्म्य (अभेद भाव) बना रहता है। परमशिव की इच्छा ही सृष्टि का रूप धारण कर लेती है। टीकाकार ने परमशिव तथा जगत् के बीच सम्बन्ध को बताने के लिए दर्पणनगरवत् का उदाहरण दिया है। इस कारिका का भाव अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि उपर्युक्त सभी बातों की विवेचना की जाय तथा इसमें उठने वाले प्रश्नों का समाधान खोजा जाय।

शिव को अनुत्तर कहा गया है। अनुत्तर कहने का तात्पर्य यह है कि शिव विश्वोत्तीर्ण अथवा विश्वातीत तत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन में शिव विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों है। शिव विश्वमय है क्योंकि शिव और विश्व में तात्त्विक दृष्टि से अभेद है। शिव विश्वोत्तीर्ण भी है क्योंकि जगत् शिव का आभास है तथा शिव को इसका ज्ञान भी रहता है। शिव ही जगत् के रूप में अवभासित होता है तथा सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण भी होता है, किन्तु इन सारी प्रक्रियाओं से अप्रमावित भी रहता है अर्थात् सम्पूर्ण परिवर्तनों (सृष्टि) का आधार होते हुए भी शिव अपरिवर्त्य है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सृष्टि-प्रक्रिया में स्वयं अवतीर्ण होकर भी शिव अपरिवर्त्य कैसे रह सकता है? अथवा यह कि तात्त्विक दृष्टि से विश्वमय होते हुए भी किस प्रकार शिव को विश्वातीत कहा जा सकता है? इसके समाधान में यह कहा जाता है कि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि यथार्थ अथवा वस्तुवादी सृष्टि नहीं है वरन् शिव की विमर्शात्मक सृष्टि है। जिस प्रकार व्यक्ति अपने कल्पनालोक का निर्माण कर लेता है और स्वयं इस लोक से परे और अप्रभावित भी रहता है, उसी प्रकार शिव जगत् की सृष्टि करता है तथा जगत् से

परे और अपरिवर्त्य भी रहता है। समस्या तब उत्पन्न होती जब शिव इस सृष्टि में लिप्त होता तथा उसे यह ज्ञान न होता कि यह उसकी विमर्शात्मक अर्थात् एक तरह से काल्पनिक सृष्टि है, किन्तु शिव को इसका ज्ञान रहता है।

परमशिव जगत् की सृष्टि करने की इच्छा होने पर स्पन्दमान होता है तो उसका प्रथम स्पन्द शिव तत्त्व कहा जाता है। शिव की क्रियाशीलता को काश्मीर शैव दर्शन में स्पन्द कहा गया है। प्रश्न उठता है कि क्या परमशिव सृष्टि की प्रक्रिया में ही स्पन्दनशील होता है अथवा स्पन्दमान होना उसका स्वरूप ही है। वास्तव में काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमतत्त्व (परमशिव) ज्ञान एवं क्रिया दोनों रूप है। यहाँ चैतन्य निष्क्रिय नहीं है वरन् स्पन्दनशील है तथा उसकी स्पन्दनशीलता या क्रियात्मकता को ही शक्ति कहा जाता है। परमशिव वस्तुत: शिव एवं शक्ति, ज्ञान एवं क्रिया, प्रकाश एवं विमर्श दोनों है। शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त के अनुसार चैतन्य में क्रियात्मकता माया के कारण आती है, क्रियाशीलता चैतन्य का स्वरूप या स्वभाव नहीं है । अद्वैत-वेदान्त ऐसा संभवत: इसलिये मानता है कि उसके अनुसार कर्म अपूर्णता का द्योतक है। अत: ब्रह्म में सृष्ट्यादिक किसी भी कर्म का पूर्ण रूप से अभाव होना चाहिए। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार क्रिया का ऐसा स्वरूप है जो माया के कारण उत्थित नहीं होता, वरन् शिव में स्वाभाविक रूप से है। इसका पारिभाषिक नाम स्पन्द दिया गया है। कर्म अपूर्णता का द्योतक है, यह काश्मीर शैव दर्शन भी मानता है किन्तु स्पन्द या क्रिया का कर्म से मौलिक भेद है, स्पन्द अपूर्णता का द्योतक नहीं है वरन् पूर्णता अथवा आनन्द का स्वाभाविक परिस्फुरण है। स्पन्द क्रिया ऐच्छिक कर्म नहीं है जिसमें कि कर्ता को आभास अथवा प्रयास करना पड़ता है। स्पन्द अनायास (बिना किसी आभास अथवा प्रयास के) होने वाली क्रिया है किन्तु यह यान्त्रिक क्रिया भी नहीं है जैसे कि स्वसन क्रिया या सहज क्रिया जिसमें कर्ता का स्वातन्त्र्य नहीं रहता। स्पन्द क्रिया में कर्ता का स्वातन्त्र्य बना रहता है तथा उसमें ज्ञान और आनन्द भी रहता है। जीवन के अनुभवों में स्पन्द का शत प्रतिशत पूर्ण उदाहरण तो नहीं मिलता किन्तु स्पन्द या क्रिया की झलक हमारे व्यावहारिक अनुभवों में पाई जा सकती है। उदाहरण के लिए हममें आनन्द का अतिरेक होता है तो गाने-नाचने आदि की क्रिया उससे स्वाभाविक रूप में उद्रिक्त हो सकती है, अथवा हृदय में प्रेम उल्लसित होने पर प्रिय पात्र के प्रति

चुम्बन, आलिंगनादि क्रियाएँ सहज रूप से फूटती हैं। उदात्त कलात्मक सृजन की अवस्था में कला का स्वाभाविक प्रवाह होता है, इसे भी स्पन्द-क्रिया का उदाहरण माना जा सकता है।

परमशिव जो सृष्टि-क्रिया करता है, वह उसका कर्म नहीं है और न ही उसकी यान्त्रिक क्रिया है ।

उसे स्पन्द-क्रिया कहा गया है। सृष्टि शिव के आनन्द से उद्भूत है। शिव में आनन्द का उद्रेक होने पर उसके परिणाम-स्वरूप स्वाभाविक रूप से सृष्टि स्फुटित होती है। शिव अपने भीतर किसी कमी को पूरा करने के लिये सृष्टि नहीं करता, वरन् शिव में जो आनन्द है वही सृष्टि-क्रिया रूप में प्रकटित होता है। इस प्रकार सृष्टि-क्रिया शिव की अपूर्णता का द्योतक नहीं क्योंकि यह उसका कर्म नहीं है वरन् 'क्रिया' या स्पन्द है। स्पन्द में इच्छाशक्ति को आयास नहीं करना पड़ता वरन् यह अनायास स्वाभाविक रूप से होता है। इसमें कर्ता को कोई बाध्यता नहीं होती अर्थात् कर्ता उसे चाहे तो नहीं होने दे सकता है। इसीलिए स्पन्द को स्वातन्त्र्य कहा जाता है। स्पन्द-क्रिया में कर्ता को क्रिया का ज्ञान रहता है, इसमें यान्त्रिक क्रिया जैसी अज्ञानता नहीं रहती। स्पन्द में आनन्द की अनुभूति होती है। वास्तव में स्पन्द आनन्द का ही स्वाभाविक उच्छलन है।

टीकाकार ने काश्मीर शैव दर्शन को स्वतन्त्र शिवाद्वय दर्शन कह कर परमशिव के स्वातन्त्र्य पर विशेष आग्रह किया है किन्तु साथ ही यह कहा है कि पञ्चकृत्य करना (जिसमें सृष्टि करना भी एक कृत्य है) परमशिव का स्वभाव है। इससे यह ध्वनित होता है कि सृष्टि करना शिव के लिये आवश्यक है अर्थात् वह सदैव सृष्टि करता रहता है; इस प्रकार सृष्टि उसका स्वातन्त्र्य नहीं है बल्कि सृष्टि शिव द्वारा होती ही रहती है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार पञ्चकृत्यों को स्वाभाविक कृत्य कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि पञ्चकृत्य स्वरूप में ही अनुस्यूत हैं, वरन् यह है कि पञ्चकृत्यों को संपादित करने में शिव को आयास नहीं करना पड़ता बल्कि ये कृत्य शिव द्वारा अनायास संपादित होते हैं। पञ्चकृत्यों को स्वाभाविक कहने में काश्मीर शैव दार्शनिकों का उद्देश्य है पञ्चकृत्यों को कर्म से अलग करना। सृष्टि शिव की क्रिया है न कि कर्म। यह क्रिया शिव का स्पन्द है जिसमें शिव का स्वातन्त्र्य निहित है। काश्मीर शैव दार्शनिक शिव के स्वरूप में केवल अहंविमर्शात्मक क्रिया

का अनुस्यूत होना मानते हैं, जिससे शिव में आत्म-चेतना रहती है। पञ्चकृत्य अहं विमर्शात्मक क्रिया नहीं है बल्कि अहमिदम् विमर्शात्मक क्रिया है जो शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है। पञ्चकृत्यों को स्वभाव इसलिये भी कहा गया है क्योंकि सृष्टि करने में शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। जैसे खेलना बच्चे का स्वभाव कहा जाता है यद्यपि खेलना उसका स्वरूप नहीं है किन्तु खेलना किसी उद्देश्य सें नहीं है इसलिए स्वभाव कहा जाता है। इसी प्रकार शिव की सृष्टि उसका स्वभाव है।

शिव को अनुत्तर कहा गया है। यदि सृष्टि को शिव के स्वरूप में ही निहित मान लिया जाय तो शिव को अनुत्तर कहने में तार्किक कठिनाई उपस्थित होगी। शिव विश्वमय ही रह जायेगा, विश्वोत्तीर्ण नहीं हो पायेगा क्योंकि शिव में विश्व के नित्य उपस्थित रहने से शिव इससे परे नहीं कहा जा सकता। यदि शिव केवल विश्वमय ही है तो यह जागतिक पदार्थों से भिन्न नहीं होगा। शिव को विश्वोत्तीर्ण माना गया है तथा काश्मीर शैव शास्त्र में शिव को अनुत्तर कहा गया है। अत: सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य ही मानना होगा। सृष्टि को शिव का स्वातन्त्र्य मानने से शिव को अनुत्तर कहने में कोई तार्किक कठिनाई उपस्थित नहीं होती।

काश्मीर शैव शास्त्र में यह कहा गया है कि शिव की इच्छा ही सृष्टि रूप में प्रकाशित होती है। इस कथन से सामान्यतया यही अर्थ लगाया जाता है कि सृष्टि अव्यक्त रूप में शिव में नित्य विद्यमान रहती है। शिव की सिसृक्षा शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होती है किन्तु शिव के स्वरूप में आवश्यक रूप में अनुस्यूत नहीं है। शिव में सृष्टि का नित्य होना नहीं माना जा सकता क्योंकि तब सृष्टि का प्रकाशन होना आवश्यक होगा तथा ऐसी स्थिति में शिव का स्वातन्त्र्य नहीं होगा। अत: शिव की इच्छा के ही सृष्टि रूप धारण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि सृष्टि अव्यक्त रूप से शिव में नित्य रहती है बल्कि इसका तात्पर्य केनल इतना ही है कि सृष्टि किसी बाह्य उपादान से निर्मित नहीं है। यह शिवेच्छा से ही निर्मित है। शिव की सिसृक्षा भी स्पन्द रूप है। इसका उत्थित होना शिव के स्वातन्त्र्य पर निर्भर है।

काश्मीर शैव दर्शन में परम शिव ही जगत् का मूल कारण है। वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। वह उपादान कारण इसलिए है कि जगत् उसके भीतर से ही प्रकट होता है, अथवा दूसरे शब्दों में, जगत् जिस उपादान का बना है वह चैतन्य अर्थात् शिव ही है। शिव निमित्त कारण भी इसलिए है कि

जगत् को अपने में से स्वयं ही बनाता है। बनानेवाला भी वही है और बननेवाला भी वही है। जगत् की सृष्टि में शिव की 'स्वतन्त्र इच्छा' ही प्रमुख कारण है। परम शिव अपनी इच्छा के द्वारा लीला के लिए इस विश्व की रचना करता है। जगत्-रचना के लिए परम शिव को किसी उपादान या अधिकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कार्य मात्र उसकी इच्छा से संपादित हो जाता है, उसी तरह जैसे योगी अपनी इच्छा शक्ति के बल से बिना किसी उपादान का अवलम्बन लिये मानसी सृष्टि कर लेता है।

टीकाकार ने शिव तथा जगत् में अभेद सम्बन्ध को बताने के लिए दर्पण में स्थित (प्रतिबिम्बित) नगर का उदाहरण दिया है। शिव तथा शिव द्वारा आभासित जगत् में तादात्म्य है। दर्पण में नगर के समान स्वरूपात्मक भित्ति से अभिन्न होते हुए भी भिन्न के समान विविध जगत् को शिव उन्मीलित करता है। इच्छा रूप अन्तःस्थित पदार्थों का प्रकटीकरण ही उन्मीलन है। कार्यात्मक समस्त विश्व मूल में प्रकाश के साथ एकात्म रूप से स्थित है। यह जगत् चित् से भिन्न किसी भी दशा में नहीं है। दर्पण से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, इसलिए दर्पण से पृथक् इसका कोई देश भी नहीं होता। प्रतिबिम्ब कोई स्थूल मूर्ति (जड़ पदार्थ) नहीं है जिससे इसका दर्पण से पृथक् देश होने की संभावना भी नहीं होती। काल से भी इसका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि कालयोग किसी पूर्वापर भाव की अपेक्षा से पृथक् सत्तावाले पदार्थ में ही देखा जाता है। परम शिव अपने ही स्वरूपात्मक भित्ति पर स्वयं को ही प्रतिबिम्बित करता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में तात्त्विक एकता है किन्तु बिम्ब पूरी तरह प्रतिबिम्ब नहीं है और प्रतिबिम्ब पूरी तरह बिम्ब नहीं है क्योंकि बिम्ब वास्तविक सत्ता है जबकि प्रतिबिम्ब उसका आभास है। इसी तरह शिव और जगत् में एकता है अर्थात् जगत् शिव रूप है किन्तु जगत् पूरी तरह शिव न होकर शिव का आभास है। दर्पण में स्थित नगर का जो उदाहरण दिया जाता है वह शिव द्वारा होने वाले जगदावभास की पूरी व्याख्या नहीं कर पाता है। इससे केवल दर्पण और प्रतिबिम्ब की एकता को समझा जा सकता है, बिम्ब और दर्पण तथा प्रतिबिम्ब की एकता को नहीं समझा जा सकता। इस दृष्टान्त में बिम्ब की दर्पण से पृथक् सत्ता होती है। किन्तु शिव स्वयं बिम्ब, दर्पण और प्रतिबिम्ब तीनों है। चेतना की अभिव्यक्ति में भी पर्याप्त अन्तर है। दर्पण को प्रतिबिम्ब के

प्रकाशन के लिए प्रकाश आदि पर आश्रित होना पड़ता है क्योंकि उसकी अपनी कोई शक्ति नहीं है। चेतना स्वयं प्रकाश होने से अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पदार्थ को प्रकाशित करती है। दर्पण और चिति के प्रकाशन में प्रमुख अन्तर यही है कि दर्पण में वस्तु को प्रतिबिम्बित करने का स्वातन्त्र्य नहीं है जबकि चिति में स्वातन्त्र्य है। काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार स्वातन्त्र्यहीन चेतना को सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता। स्वन्त्रेच्छा की अनुपस्थिति में किसी भी प्रकार की सृष्टि नहीं हो सकती। चिति जगत् को अपनी ही भूमि पर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रकाशित करती है न कि किसी और वस्तु से। प्रत्येक वस्तु चेतना की भूमि पर ही प्रकाशित होती है, कोई भी वस्तु इससे बाहर प्रकाशित नहीं हो सकती। सभी अभिव्यक्त और अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ स्वतन्त्र इच्छा में चिति के साथ अद्वैत रूप में अवस्थित रहते हैं।

जगत् की सृष्टि और संहार शिव का स्वातन्त्र्य स्वभाव है। इस स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण ही काश्मीर शैव दर्शन में उसे पूर्ण स्वतन्त्र आनन्द घन परम ईश्वर कहा गया है। अपने इस स्वातन्त्र्य से ही वह कहीं क्रम से कहीं अक्रम से, अभेद, भेदाभेद और भेद रूप तीनों दशाओं में अपने आभासन की लीला करता है। विभिन्न भूमिकाओं में स्वेच्छावश लीला-अभिनय करने के कारण ही उसे नर्तक कहा गया है। अपने इस अप्रतिहत स्वातन्त्र्य के कारण ही परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता-प्रमेय आदि नाना रूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी अतिरिक्तवत स्वात्मभित्ति पर आभासित करता है। जगत् का अपने अन्दर यह आभास और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलय ही उसका स्वातन्त्र्य रूप कर्तृत्व है। इसी कर्तृत्व स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान (निग्रह) और अनुग्रह रूपात्मक पञ्चकृत्यों को करता है। पञ्चकृत्यों को करते हुए भी वह अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उसके परिशुद्ध स्वभाव को अशुद्ध भाव संस्पर्श नहीं कर पाता।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव की इच्छा ही जगत् रूप में अभिव्यक्त होती है। शिव को जगत् की सृष्टि करने के लिये किसी साधन या उपादान की आवश्यकता नहीं होती। शिव सर्वशक्तिमान् है। वह अपनी इच्छा को ही विषयों के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। वास्तव में सृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए वह

किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा भी नहीं कर सकता क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य का सर्वथा अभाव है। अत: वह स्वयं को ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। परमेश्वर की इच्छाशक्ति का उन्मेष होने पर विश्व बाह्य रूप में प्रकट होता है। विश्व के बाह्य रूप में प्रकट होने का तात्पर्य है इच्छारूप विश्व का ज्ञान रूप धारण करना। इच्छाशक्ति के स्फुरण के उपरान्त ज्ञानशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होने पर विश्व जो इच्छारूप में होने के कारण अव्यक्त दशा में रहता है, अब व्यक्त होने लगता है। इच्छा रूप अव्यक्त विश्व ज्ञानशक्ति के विकास से ज्ञानस्वरूप में स्थित होता है। फिर वही ज्ञान की तरंगित अवस्था में ज्ञेय रूप से पृथक् आकार में अपने को प्रकट करता है। इसके पश्चात् क्रियाशक्ति का उन्मेष होने पर वह आकार ज्ञान से च्युत होकर कार्य का आकार धारण करता है। यही परम शिव की जागतिक अवस्था है।

जगत् की सृष्टि की पारमेश्वरी इच्छा पञ्चशक्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में विकसित होती है। ये पञ्चशक्तियाँ हैं— चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति। शुद्धाध्वा तक की सृष्टि इन्हीं शक्तियों की अभिव्यक्ति है। इन शक्तियों के रूप में परम शिव ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है। चिदादि के प्राधान्य को समझने के लिए ही इनका विभिन्न नामकरण किया जाता है। शिव तत्त्व में चित् शक्ति का प्राधान्य है, शक्ति तत्त्व में आनन्द शक्ति का, सदाशिव में इच्छा, ईश्वर में ज्ञान तथा सद्विद्या में क्रिया शक्ति का प्राधान्य है।

इच्छा सैव स्वच्छा संततसमवायिनी सती शक्तिः।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ।।२।।

तस्य स्वाभिन्ना स्वतन्त्रेच्छाशक्तिरेव उद्भविष्यतो विश्वस्य स्वान्तर्निलीनत्वात् बीजभूता शक्तितत्त्वतां याति, शक्तेः शक्तिमद्धर्मत्वेऽपि न अन्यदर्शनाभिमतवत् तस्मात् व्यतिरेकः, नैष्कर्म्येण अत्र इच्छायाः स्वच्छत्वात् हृदय-विमर्श-सारोर्मिप्रभृतिभिः संज्ञाभिः तत्तद्दर्शनेषु अभिधानम्। परमेश्वर एव हि स्वैश्वर्योच्छलत्तया पूर्णाहन्ताचमत्कारतारतम्येन शक्तिदशामधिशेते, इत्यत्र आनन्दशक्ति प्राधान्यम्।।२।।

वह इच्छा (ही) उसमें (परमशिव में) निरन्तर समवायरूप से (अभिन्न रूप से) रहने वाली शुद्ध शक्ति है तथा (वही) उसके स्वरूप में तादात्म्य भाव से रहने वाले सम्पूर्ण चर-अचर (चेतन-अचेतन) जगत् का बीज है।।२।।

स्वयं उसके अपने स्वरूप में ही विश्व की सृष्टि करने के लिये उद्भूत उससे अभिन्न उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति ही शक्ति तत्त्व (बन जाती है अथवा शक्ति तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है) हो जाती है, शक्ति को शक्तिमान् का (यद्यपि) धर्म (गुण) कहा जाता है किन्तु अन्य दार्शनिक मतों के अनुसार उससे (शक्तिमान् से) उसका (शक्ति का) कोई अन्तर (भेद) (हमारे मत में) नहीं है, यहाँ (इस स्तर पर) इच्छा नैष्कर्म्य रूप (कर्म रूप न होने से) न होने से (तथा) शुद्ध होने से अन्यान्य दर्शनों में इसकी हृदय, (विमर्श) सार, ऊर्मि (तरंग) आदि नाम पाये जाते हैं। परमेश्वर (परमशिव) ही अपने पूर्ण अहं के ऐश्वर्य के चमत्कार (आनन्द के उच्छलन) के उच्छलन से शक्ति दशा को प्राप्त होते हैं, (शक्ति तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होते हैं), यहाँ आनन्द शक्ति का प्राधान्य होता है।।२।।

व्याख्या :- इस कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव में जगत् की सृष्टि करने की इच्छा होती है तो वह इच्छा ही (पहले शिव तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होने के बाद जगदावभास के द्वितीय क्रम में) शक्ति तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है तथा वही इच्छा शक्ति सम्पूर्ण चर-अचर जगत् का बीज रूप है एवं वह परमशिव के स्वरूप में ही अन्तर्निहित होती है तथा उसके साथ निरन्तर अभेद रूप में रहती है अर्थात् उसका परमशिव से कोई अन्तर अथवा भेद नहीं है। टीकाकार ने कारिका का भावार्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमशिव से अभिन्न उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति ही जो कि समस्त विश्व का बीजरूप है, शक्ति तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। अन्य दर्शनों में शक्ति को शक्तिमान् का धर्म अथवा गुण कह कर उसमें धर्म-धर्मी भाव अथवा गुण-गुणी का सम्बन्ध बताकर कुछ भेद प्रतिपादित किया जाता है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यहाँ दोनों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। परमशिव के पूर्णाहन्ता रूप्री आनन्द के ऐश्वर्य का चमत्कार (विमर्श) ही शक्ति तत्त्व है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमशिव का

अहं-विमर्श ही शक्ति तत्त्व है। दोनों में अभेद सम्बन्ध है। शक्ति तत्त्व को आनन्द शक्ति के प्रकाशन का स्तर कहा जाता है, इसलिए टीकाकार ने कहा है कि इस स्तर पर आनन्द शक्ति का प्राधान्य रहता है।

वास्तव में शिव की क्रियारूपता को ही शक्ति कहा जाता है। शिव ज्ञान रूप है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ज्ञान भी क्रिया रूप है। शक्ति के लिये प्रयुक्त विमर्श, स्पन्द आदि शिव की क्रियारूपता का ही संकेत करते हैं। शक्ति को विमर्श कहने का तात्पर्य है कि शिव का प्रकाश विमर्शमय है जो स्वयं को भी प्रकाशित करता है। शिव के लिए स्पन्द का प्रयोग होता है क्योंकि शिव स्वभावत: स्पन्दनशील है। शिव के स्वरूप में ही क्रिया निहित है जो अनायास होती है। शिव का स्पन्द ऐच्छिक अथवा स्वाभाविक क्रिया से भिन्न है। यह शिव का स्वातन्त्र्य है। शिव को स्पन्दनशील कहने का तात्पर्य यही है कि शिव कभी भी निष्क्रिय (गतिहीन अथवा क्रिया विहीन) नहीं कहा जा सकता। सृष्टि अथवा प्रलय की अवस्था में न होने पर भी शिव का अहंविमर्श चलता रहता है। शक्ति के लिए प्रयुक्त विभिन्न नाम इस प्रकार शिव की क्रियारूपता को ही व्यक्त करते हैं। शक्ति भी एक ही है जो कि शिवस्वरूप में अनुस्यूत है। शक्ति शिव की अभिव्यक्तियों के अनुसार अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। वास्तव में शिव की अभिव्यक्तियाँ ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। बिना शक्ति के शिव अभिव्यक्त भी नहीं हो सकता क्योंकि निष्क्रिय, शक्तिहीन शिव जड़ पदार्थ के समान होगा। इसलिए काश्मीर शैव दर्शन में शिव-शक्ति की भिन्न परिकल्पना नहीं की गई है।

शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव से अलग नहीं है, बल्कि अपनी सर्जनात्मक स्थिति में स्वयं शिव है। शक्ति शिव का अहं-विमर्श है। शक्ति की उन्मुखता ही शिव की सृष्टि करने की प्रवृत्ति है। शक्ति की संस्थिति शिव के चिन्मय तथा स्पन्दात्मक स्वरूप में ही है। चित् या परासंवित् में अहम् और इदम् की अभेद्य एकता होती है। शिव तत्त्व में इदम् शक्ति तत्त्व के क्रियाशील (अभिव्यक्त) होने से प्रकाशित होता है। इस इदम् अंश को बाहर कर लिया जाय अथवा यदि इदम् अंश प्रकाशित न हो तो ऐसी स्थिति को अनाश्रित शिव कहा जाता है जिसमें केवल अहं अंश होता है किन्तु यह अहम् भी अहं-विमर्श है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा में, अथवा किसी भी दशा में, शिव शक्ति से

रहित नहीं होता। परमशिव की स्वरूप शक्ति अर्थात् चित्-शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। शक्ति को इस रूप में मानना ही काश्मीर शैव दर्शन की विशेषता है।

शिव और शक्ति का सम्बन्ध सामरस्य या शिव और शक्ति का समन्वय है जो परमतत्त्व का स्वरूप ही है। परमतत्त्व न तो शिव और न ही शक्ति के प्राधान्य का स्तर है, वरन् यह पूर्ण समन्वय का स्तर है, जहाँ शिव और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता। परमशिव दोनों का संगुटीकरण नहीं बल्कि एक मूल एकता है जिसकी ये दोनों शाश्वत अभिव्यक्तियाँ हैं। अभिव्यक्ति के स्तर पर ये अलग-अलग प्रतीत होते हैं जबकि वास्तव में ये कभी अलग नहीं होते। ये परमतत्त्व के द्विविध अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में जो परमशिव है वही परमशक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ शव मात्र होगा तथा प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म प्रकाश में भी असमर्थ होगी। शिव-शक्ति सम्बन्ध को बताने के लिए परम्परा में शंकर-पार्वती या पति-पत्नी अथवा अर्द्धनारीश्वर का प्रतीक प्रयोग किया जाता है। किन्तु ये प्रतीक शिव-शक्ति सम्बन्ध को पूर्ण रूपेण व्यक्त नहीं करते। पति-पत्नी के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि दोनों दो हैं और एक साथ अथवा एक सूत्र में रहते हैं, किन्तु शिव-शक्ति दो नहीं हैं, वरन् ये तत्त्वतः एक ही हैं। अर्द्धनारीश्वर के प्रतीक से यह समझा जा सकता है कि शिव का आधा भाग शिव का तथा आधा शक्ति का है। किन्तु शिव-शक्ति को इस प्रकार नहीं समझा जा सकता क्योंकि शिव सम्पूर्ण ही शक्ति है तथा शक्ति सम्पूर्ण ही शिव है। शिव और शक्ति में अन्तर शुद्ध रूप से काल्पनिक और निर्मूल है। वास्तव में उनमें अन्तर किया ही नहीं जा सकता।

सृष्टि की अभिव्यक्ति के क्रम में शक्ति तत्त्व आनत्त्द शक्ति की अभिव्यक्ति का स्तर अथवा आनन्द शक्ति के प्राधान्य का स्तर कहा जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में आनन्द भी स्पन्दन या क्रिया रूप है। इस क्रिया रूप आनन्द शक्ति के द्वारा ही शिव आनन्दमय है तथा आनन्द की अनुभूति भी करता है। इसे स्वातन्त्र्य भी कहा जाता है। यह परम इच्छा है जो बिना किसी बाह्य वस्तु की सहायता के सब कुछ करने में समर्थ है। वास्तव में प्रकाशरूपता का विमर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है जिससे आत्मा पर-निरपेक्ष होकर स्वात्ममात्र की पूर्णता में विश्रान्त रहता है। पर-निरपेक्ष आत्म-पूर्णता की प्रतीति ही उसका आनन्द है।

स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य।
निवसन्स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहित;।।३।।

तस्यैव परमेश्वरस्य स्वस्वातन्त्र्योद्भासितस्य विश्वस्य विशुद्धसंविन्मात्राधिकरण्येन स्वात्मन्येव समुल्लासनात् सदित्याख्यानात् सदाशिवतत्त्वावस्था, तत्र प्रोन्मीलितमात्रचित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्फुटत्वात् इच्छाप्राधान्यम्, अतः स भाविनः समस्तभावराशेः सम्यक् बहिरवबिभासयिषालक्षणक्रीडारसिकत्वात् अनुग्रहनिरतस्तद्-भूमिकां गृह्णाति इत्यतो निवसन्नित्युक्तम्।।३।।

अपने स्वरूप में (ऐक्यभाव से) अवस्थित जगत् को इच्छा शक्ति (इच्छा रूप में) के रूप में अभिव्यक्त करके वह (परमशिव) सदाशिव (तत्त्व) से अभिहित होता है जो वहाँ (उसके स्वरूप में) रहते हुए सदैव सबको (सम्पूर्ण जगत् को) अनुग्रह प्रदान करता रहता है।।३।।

उस परमेश्वर का अपना स्वातन्त्र्य ही जगत् का विशुद्ध संवित् रूप (चैतन्य रूप तथा सत् रूप) आधार (है) जो कि उसमें से ही (उसके स्वरूप में ही) उद्भासित (अभिव्यक्त) है, सदाशिव तत्त्व की अवस्था है, वहाँ (सदाशिव स्तर पर) इदमंश (जगत्) अस्पष्ट चित्र रूप कल्पित मात्र होता है, (यहाँ) इच्छा का प्राधान्य रहता है, अत: (इसलिए) समस्त भावों (सम्पूर्ण जगत्) को सम्यक् रूप से बाह्य अवभासन करने की उसकी क्रीड़ा रूप (लीला रूप) स्वतन्त्र इच्छा सदैव अनुग्रह करने में संलग्न उस भूमिका (सदाशिव तत्त्व की अवस्था) को ग्रहण करता है।।३।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि जगत् जब इच्छा रूप में अभिव्यक्त होता है अर्थात् जगत् को सृष्ट करने की जब इच्छा परमशिव में उद्भूत होती है तो उस अवस्था को सदाशिव तत्त्व कहते हैं। इच्छा रूप जगत् शिव के स्वरूप में ही उद्भूत होता है तथा उसी में ऐक्यभाव से रहता है। इस अवस्था में परमशिव सब पर अनुग्रह करने वाला कहा जाता है। सदाशिव का शाब्दिक अर्थ है सदा कल्याणकारी होना। टीकाकार ने कारिका को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शिव विशुद्ध सत्रूप अथवा चैतन्यरूप है एवं यही विश्व की सृष्टि का आधार बनता है। यह परमशिव का स्वातन्त्र्य ही है जो सदाशिव तत्त्व की अवस्था को ग्रहण करता है।

इस स्तर पर इदम् अंश अर्थात् जगत् अस्पष्ट रहता है अर्थात् जगत् के सृष्टि की इच्छा तो पैदा होती है किन्तु जगत् का रूप स्पष्ट नहीं हुआ रहता है।

सदाशिव तत्त्व जगदावभास के क्रम में तीसरा तत्त्व है। इसकी अभिव्यक्ति शिव की इच्छा शक्ति से होती है। जब शक्ति में उन्मेष होता है तब सृष्टि होती है और जब निमेष होता है तो जगत् का लय हो जाता है। यह उन्मेष और निमेष अनादि और अनन्त हैं। इसी उन्मेष के कारण सदाशिव तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्ति तत्त्व का प्रथम उन्मेष है। इस स्तर पर इच्छा शक्ति का प्राधान्य हो जाता है। इस अवस्था में अनुभव का प्रत्यय अहमिदम् होता है। 'अहम्' शिव का परिचायक है और 'इदम्' विश्व का। इस अवस्था में 'इदम्' अंश अस्फुट रहता है और अहम् अंश का प्राधान्य होने से वह 'इदम्' अंश को आच्छादित किये रहता है। इसलिये यहाँ जगत् का अव्यक्त रूप में भान होता है। सदाशिव अवस्था में जगत् या अनुभव का 'इदम्' अंश धुँधले विचार के रूप में रहता है जैसे कलाकार के मन में चित्र बनाने के पूर्व चित्र की कल्पना मात्र रहती है।

सदाशिव तत्त्व सृष्टि के विकास में प्रथम तत्त्व है। वास्तव में जगदावभास का आरम्भ इसी तत्त्व से होता है। काश्मीर शैव शास्त्र में कहीं शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है तो कहीं-कहीं शक्ति तत्त्व को भी परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है। आचार्य क्षेमराज ने 'पराप्रावेशिका' में शक्ति तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा है। षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह में शिव तत्त्व को परमशिव का प्रथम स्पन्द कहा गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में शिव तत्त्व को परमशिव की 'प्रथम तुटि' तथा 'शक्ति' तत्त्व को परमशिव की 'द्वितीय तुटि' कहा है। जगदावभास के क्रम में तो सदाशिव तत्त्व को ही प्रथम तत्त्व मानना चाहिए क्योंकि शिव तथा शक्ति तत्त्व तक की अभिव्यक्ति तो परमशिव की स्वरूपाभिव्यक्ति है। इस स्तर पर इदम् अंश अर्थात् जगत् का प्रादुर्भाव नहीं हुआ रहता। शिव-शक्ति तो परमशिव का स्वरूप ही है। यहाँ केवल अहं-विमर्श रहता है, इदम् अंश का उन्मेष भी नहीं हुआ रहता। इदम् अंश का प्रादुर्भाव अथवा उन्मेष तो सदाशिव तत्त्व की अवस्था में ही होता है। वास्तव में शिव-शक्ति का भेद अथवा अलग-अलग तत्त्वों के रूप में गणना तो मात्रव्यावहारिकदृष्टि से विश्लेषण की सुविधा के लिए किया जाता है। इनमें कोई वास्तविक विभेद तो किया ही नहीं जा सकता। जब

शिव तथा शक्ति को आभास क्रम में अलग-अलग प्रथम तत्त्व तथा द्वितीय तत्त्व के रूप में लिया जाता है तो वहाँ शिव तत्त्व परमशिव का परिपूर्ण शुद्ध विश्वोत्तीर्ण रूप है। 'शिव' से अभिहित होने वाली परमशिव की अवस्था में विश्वोन्मीलन की बात उत्पन्न नहीं हुई रहती । शिवतत्त्व की अवस्था में अनुभव का प्रत्यय 'अहम्'रहता है । शक्ति तत्त्व के स्तर पर भी विश्वोन्मीलन की बात नहीं आती। यह आनन्द शक्ति का स्तर है। यहाँ अनुभव का प्रत्यय 'अहमस्मि' अर्थात् अहं-विमर्श नहीं रहता बल्कि शक्ति तत्त्व के स्तर पर अहं-विमर्श रहता है, मात्र व्यावहारिक दृष्टि से तत्त्वों की व्याख्या करने के लिए कहा जाता है। शिव सदैव शक्तिरूप रहता है तथा उसका अहम् सदैव अहं विमर्श रूप रहता है। इदम्-विमर्श का प्रादुर्भाव तो सदाशिव तत्त्व के स्तर पर ही होता है। इसलिए सृष्टि का आरम्भ यहीं से माना जाना चाहिए।

विश्वं पश्चात्पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जातः ।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः ।।४।।

एवं क्रमावभासनात् विश्वस्य शुद्धसंवित्मात्राधिकरण एव स्फुटतया परामृश्यमानस्य अहमंशेऽभिषेचनात् स एव परमेश्वरः ईश्वरतत्त्वदशामधिश्रयति, अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेकः। आन्तरदशायाउद्रिक्तत्वात्सदाशिवावस्था, बहिर्भाव-परतोद्रेकात् तु ईश्वरावस्था इत्यनयोर्विशेषः। प्ररूढभेदस्य इदन्तांशस्य समधृततुलापुटन्यायेन अहमंशस्फुरणायां शुद्धविद्यातत्त्वम्। अत्र विश्वस्य स्फुटतरं परामर्शनात् क्रियाशक्तिः प्रधाना। इयति च शुद्धस्वातन्त्र्यमेव तत्तद्वैचित्र्येण प्रस्फुरति, इति शुद्धोऽध्वा।।४।।

(इसके अर्थात् सदाशिव तत्त्व के) पश्चात् सम्पूर्ण विश्व को इदम् के रूप में देखता हुआ (अनुभव करता हुआ) (परमशिव) ईश्वर हो जाता है। (पुनः) वह इदन्ता और अहन्ता की अभेदरूपता (एकता) को अनुभव करता हुआ शुद्ध विद्या हो जाता है।।४।।

इस प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप अधिकरण (आधार) से ही विश्व के क्रमिक अवभासन से स्फुटतर (स्पष्टतर) अभिव्यक्ति करते हुए (तथा) अहमंश को गौण करते हुए वह परमेश्वर तत्त्व की अवस्था को ग्रहण करता है, यहाँ

विषय (जगत् के) के ज्ञान रूप में अवभासन होने से ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है। सदाशिव अवस्था आन्तरिक उन्मेष की अवस्था है जबकि ईश्वरावस्था बहिरोन्मेष (बहि: उन्मुखता) की अवस्था है, यही दोनों में अन्तर विशेष है। जब इदन्ता अंश अहमंश से समधृततुलापुटन्याय से अर्थात् एकदम बराबर समान भाव से अलग स्पष्टतर रूप से भेद ग्रहण कर लेता है तो (यह) शुद्ध विद्या तत्त्व हो जाता है। यहाँ विश्व का स्पष्टतर प्रकाशन होने से क्रियाशक्ति की प्रधानता रहती है। इन सब में शुद्ध स्वातन्त्र्य ही वास्तव में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, यह शुद्ध अध्वा है।।४।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि विश्व के इदन्ता रूप में प्रकाशन की अवस्था शिव तत्त्व की अवस्था है। यहाँ विश्व ज्ञान रूप ग्रहण कर लेता है अर्थात् उसका रूप स्पष्ट हो जाता है किन्तु वह अभी बाह्य प्रकट नहीं हुआ रहता। इसके पश्चात् परमशिव शुद्ध विद्या तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होता है जहाँ इदन्ता और अहन्ता स्पष्ट रूप से अवभासित होते हैं, यद्यपि अभेद रूप में ही इनका अनुभव होता है। कारिका का भावार्थ स्पष्ट करते हुए टीकाकार कहते हैं कि शुद्ध संवित् रूप परमतत्त्व ही जगत् का क्रमिक स्पष्टतर अवभासन करता हुआ अहम् अंश को गौण करता हुआ ईश्वर तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस स्तर पर जगत् ज्ञानरूपता को धारण कर लेता है अर्थात् उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस स्तर पर ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है। सदाशिव तत्त्व की अवस्था का ही बहिर्भाव ग्रहण करना ईश्वर तत्त्व है। इसके पश्चात् शुद्धविद्या तत्त्व अभिव्यक्त होता है, इस अवस्था में इदम् अंश तथा अहम् अंश समान रूप से अभिव्यक्त होते हैं। टीकाकार का कहना है कि परमतत्त्व का शुद्ध स्वातन्त्र्य ही इन सभी भूमिकाओं को ग्रहण करता है।

परमशिव की इच्छा का बहिर्मुख स्पन्द ईश्वर तत्त्व कहलाता है। इस तत्त्व की अभिव्यक्ति शिवेच्छा में ज्ञानशक्ति के उद्रेक से होती है। जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति यहाँ स्पष्ट होती है। इस स्तर पर अनुभव का प्रत्यय 'इदम्-अहम्' होता है। यहाँ 'अहम्' अंश गौण रहता है और 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है। इस स्तर पर क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों की स्थिति मानी गई है, पर यहाँ ज्ञान शक्ति की प्रधानता रहती है। यहाँ सृष्टि रचना का विचार स्पष्टतर हो जाता है।

इस स्थिति में अनुभव का 'इदम्' पक्ष अथवा विश्व स्पष्टतः परिभाषित हो जाता है। जिस तरह एक कलाकार के मन में जो चित्र उसे बनाना रहता है, उस चित्र का सर्वप्रथम धुँधला विचार बस रहता है और बाद में चित्र बनाते समय यह स्पष्ट होता जाता है, उसी प्रकार सदाशिव की अवस्था में विश्व एक धुँधले विचार (इच्छा मात्र) के रूप में रहता है किन्तु ईश्वर तत्त्व की अवस्था में यह स्पष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेता है। जहाँ सदाशिव शिव और शक्ति के आन्तरिक सम्बन्ध की अवस्था है, ईश्वर उनके बाह्यीकरण की अवस्था है। सदाशिव तत्त्व विश्व के प्रलय अथवा निमेष का द्योतक है, ईश्वर तत्त्व विश्व के उदय या उन्मेष का परिचायक है। ईश्वर तत्त्व के उन्मेष से ही विश्व का उदय होता है।

अद्वैत-वेदान्त में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है परन्तु दोनों दर्शनों में स्वीकृत ईश्वर के स्वरूपों में पर्याप्त अन्तर है। अद्वैत-वेदान्त का ईश्वर माया से उपहित ब्रह्म है। यह सृष्टि, स्थिति और संहार का कर्ता है। परन्तु यह ईश्वर (अद्वैत-वेदान्त में प्रतिपादित ईश्वर) माया या अविद्या से रहित हो जाने पर ईश्वर नहीं रह जाता । काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर माया जन्य या माया से सम्बन्धित नहीं होता। यहाँ परमशिव स्वयं अपनी स्वतन्त्रेच्छा से भेदाभेद दशा में अवतरित होता हुआ ईश्वर तत्त्व कहलाता है। वेदान्त का ईश्वर प्रकृति का संस्पर्श होने पर सृष्टि का संचालन करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के रूप में प्रकट होता है। काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर प्रकृति से नौ सोपान परे है। सृष्टि का संचालन करने के लिए जब यह अवरोहण करते हैं तो अनन्तनाथ और श्रीकण्ठनाथ से अभिहित होते हैं। ईश्वर महामाया की दशा में प्रकृति के तत्त्वों की सृष्टि करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन का ईश्वर परमतत्त्व का अवस्था विशेष नहीं है बल्कि स्वयं परमतत्त्व का स्वरूप ही है जो सृष्टि के लिए अवतीर्ण हुआ है।

शुद्ध विद्या तत्त्व की अवस्था में अनुभव के 'अहम्' और 'इदम्' दोनों रूपों में ऐक्य की प्रतीति रहती है। यहाँ विषयीमूलक और विषयमूलक चेतना की बराबर अभिव्यक्ति होती है। अनुभव का प्रत्यय 'अहमिदमस्मि' रूप का होता है। इस अनुभव में 'अहम्' और 'इदम्' की बराबर की स्थिति रहती है। यह स्तर अनुभव की भेदाभेद अवस्था है। यहाँ 'यह' और 'मैं' में तादात्म्य बना रहता है। दोनों में पूर्णतः अभेद है परन्तु वैचारिक दृष्टि से तीनों में भेद भी किया जा सकता है क्योंकि

यह स्थिति वस्तुओं के सम्बन्ध की द्योतक है। जिस प्रकार परमशिव का वहि: औन्मुख्य शक्तितत्त्व कहलाता है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का बाह्य औन्मुख्य शुद्ध विद्या तत्त्व कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा अपने आप को शुद्ध संवित् स्वरूप समझता रहता है। अपने स्वरूप के विषय में कोई अज्ञान नहीं रहता परन्तु अपने अभेद भाव को भूल कर अपने को परमेश्वर से,अन्य प्राणियों से और प्रमेय तत्त्वों से पृथक् समझता रहता है। इस प्रकार शुद्ध विद्या के भीतर माया का जैसा दृष्टिकोण अंशत: रहता है परन्तु माया का प्रभाव इस अवस्था में अवस्थित आत्मा पर नहीं होता। वास्तव में यहाँ भेदाभेदमय दृष्टि होती है। यहाँ प्रमाता को 'अहन्ता' और 'इदन्ता' जैसे दो रूपों का विमर्श होता है, इसलिये उसका विमर्श भेदमय तो है ही किन्तु 'अहंता' और 'इदन्ता' रूप प्रत्यवमर्श होने पर भी वह प्रमाता 'अहन्ता' की चिद्रूपता की भाँति 'इदन्ता' को भी चिद्रूप ही समझता है। अत: 'अहं' और 'इदम्' दोनों में एक ही चिद्रूपता का परामर्श होने के कारण उसकी दृष्टि अभेदमयी भी है।

शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की सृष्टि शुद्ध अध्वा अथवा शुद्ध सृष्टि कही जाती है। सृष्टि-क्रम के ये पाँच तत्त्व शिव द्वारा स्वयं बिना किसी सहायक के या अन्य वस्तुओं के माध्यम से सीधे अभिव्यक्त होते हैं। शुद्ध अध्वा की स्थिति में चेतना को अपने स्वरूप का अन्यथा ज्ञान नहीं रहता। वहाँ शुद्ध संवित् स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रहता है। परमशिव अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला विलास से अपनी इच्छा के द्वारा इस शुद्ध अध्वा की सृष्टि एवं संहार को स्वयमेव करते रहते हैं। इन पाँच तत्त्वों तक परमशिव सृष्टि संहार आदि के ऐश्वर्य को किसी को भी नहीं सौंपते हैं। शुद्ध सृष्टि तक परमशिव से अभेदभाव की अनुभूति बनी रहती है। इन पाँच तत्त्वों तक की इस शुद्ध सृष्टि में माया का कोई प्रभाव नहीं रहता है।

माया विभेदबुद्धिर्निजांशजातेषु निखिलजीवेषु ।
नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ।।५।।

अशुद्धे पुनरध्वनि परमेश्वर एव स्वात्मप्रच्छादनक्रीडया अघोरभट्टारकभूमिं मन्त्रमहेश्वररूपां गृहीत्वा दुर्घटसंपादनसामर्थ्येन मायाशक्त्या स्वतोऽन्योन्यतश्च भिन्नम् अणूनां भोगसिद्धये कला-

दिक्षित्यन्तं जडाजडवर्गं क्रमतोऽक्रमतोऽपि अवभासयति, तत्र भिन्नभिन्नप्रथात्मकमायीयमलेन स्वाङ्गकल्पेष्वपि जडवेद्यवर्गेषु विभिन्नतया बुद्धिरेव मायाख्यं तत्त्वं, येन तस्य निरर्गलं स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते, वेलयेव अब्धितरङ्गाणां वैभवम्।।५।।

उसके (परमशिव के) स्वरूप से ही उत्पन्न माया समस्त् जीवों में भेद बुद्धि (भेद ज्ञान पैदा करने वाली है) है। वह (माया) उसके (परमशिव के) असीम वैभव (ऐश्वर्य) को वैसे ही सीमित करती है (बाँधती है अथवा आच्छादित कर संकुचित करती है) जैसे समुद्र के तट समुद्र को बाँधते हैं अर्थात् उसके विस्तार को सीमित करते हैं।।५।।

अशुद्ध अध्वा में परमेश्वर ही आत्मस्वरूप को आच्छादित करने की क्रीड़ा (लीला) से अघोर भट्टारक की भूमिका में मन्त्रमहेश्वर रूप ग्रहण करके दुर्घट कार्य सम्पादन में समर्थ माया शक्ति से स्वयं को अन्य के समान अणुरूप में भिन्न रूप से (अर्थात् स्वयं को अणु रूप में अपने से भिन्न के समान) भोग के लिये कला तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जड़ तथा चेतन सृष्टि को क्रम से अथवा अक्रम से भी अवभासित करते हैं, वहां अभिन्न को भिन्न रूप में प्रकट करने वाले मायीयमल से अपने से (ज्ञाता विषयी से) अभिन्न रहते हुए भी विषय रूप जड़ वर्ग (ज्ञान का विषय) भिन्न रूप में अनुभव करना माया तत्त्व है जिससे उसका (परमशिव का) अप्रतिहत (अबाधित) स्वातन्त्र्य वैसे ही सीमित होता है अथवा बाधित या आच्छादित होता है जैसे तटों द्वारा समुद्र।।५।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव के स्वरूप से ही माया तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है जो समग्र जीवों में भेद ज्ञान पैदा करता है। माया के कारण ही परमशिव का असीम ऐश्वर्य संकुचित रूप में अभिव्यक्त होता है। टीकाकार ने कारिका का भावार्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमशिव ही अपने लीलावश स्वयं को संकुचित रूप में प्रकट करने के लिए माया को अभिव्यक्त करता है। समस्त वेद्य रूप जगत् (विषय रूप जगत्) वास्तव में विषयी अथवा ज्ञाता से अभिन्न रूप में स्थित होते हुए भी माया के कारण भिन्न रूप में अवभासित होता है।

शुद्ध अध्वा के बाद माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक की सृष्टि अशुद्ध अध्वा कहलाती है। इसे अशुद्ध सृष्टि अथवा मायीय सृष्टि भी कहा जाता है। अशुद्ध अध्वा में माया का प्राधान्य रहता है और उस मायीय जगत् की सृष्टि माया की सहायता से अघोरेश के द्वारा होती है। माया के मलों का समावेश हो जाने के कारण ही इस अध्वा को अशुद्ध अध्वा अथवा अशुद्ध सृष्टि कहते हैं। काश्मीर शैव दर्शन में माया को भेदधी अर्थात् भेद-बुद्धि कहा गया है। इसलिये माया का प्राधान्य होने के कारण अशुद्ध अध्वा में भेदज्ञान का प्राधान्य रहता है। माया के प्रभाव से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर आत्मसीमित हो जाता है। अपनी सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को भूल कर आत्मा को चिद्रूप न समझ कर शरीर को ही आत्मा समझने लगता है। इस प्रकार अपने को सीमित अनुभव कर दुखी होने लगता है। उसे अपने सर्वव्यापी स्वरूप का स्मरण नहीं रहता। अपने को सबसे पृथक् और सबको अपने से पृथक् अनुभव करने लगता है। इस प्रकार से ग्राह्य ग्राहक भाव उत्पन्न हो जाने के कारण ही उत्तरवर्ती सृष्टि अशुद्ध सृष्टि अथवा अशुद्ध अध्वा कहलाती है।

माया तत्त्व अभिव्यक्ति की वह अवस्था है जिसमें विषयी की एकता विविधता में अभिव्यक्त होती है। यहाँ अहम् अंश पुरुष रूप में तथा इदम् अंश प्रकृति रूप में अभिव्यक्त होता है। अचित् में प्रमातृत्व का आभास होने लगता है। इस स्तर पर सार्वभौम आत्मा सीमित आत्मा के रूप में प्रकट होता है। परमेश्वर अपने प्रकाशस्वरूप के आच्छादन की क्रीड़ा करते हुए इस माया तत्त्व का अवभासन करते हैं। यही उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। भेद का अवभासन करने के कारण ही यह माया शक्ति कहलाती है। इससे विषयी और विषय की एकता नष्ट हो जाती है। वे अलग जैसा अभिव्यक्त होने लगते हैं। इस स्तर पर मायाशक्ति के द्वारा परमशिव अपने स्वरूप को आच्छादित कर 'पुरुष' तत्त्व होकर पृथक् हो जाते हैं। माया से मुग्ध कर्मों को अपना बन्धन समझता हुआ यही संसारी पुरुष है। परमेश्वर से अभिन्न होता हुआ भी, इसका मोह परमेश्वर में नहीं होता।

भेदावभासन निमित्त परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति पशुत्व से संलग्न होने के कारण माया से अभिहित होती है। इसे परमेश्वर की स्वरूपगोपनात्मिका इच्छा शक्ति भी कहा गया है। माया ईश्वर की दैवी शक्ति है क्योंकि परमेश्वर का जो विश्व

निर्मातृत्व स्वरूप परम स्वातन्त्र्य है उसका सम्पादन कराने वाली है। वास्तव में वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि-निर्माण करना अति दुरूह कार्य है, उसका ईश्वर से अन्य किसी और के द्वारा होना सम्भव भी नहीं है। अतएव माया शक्ति ईश्वर की ही शक्ति है और उससे अभिन्न है।

माया का स्वरूप तिरोधानकारी है। वह अपने दुर्घट संपादन-सामर्थ्य से शुद्ध प्रमाता के प्रकाशस्वरूप का तिरोधान कर देती है जिससे वह अनवच्छिन्न प्रकाशरूप से परिच्छिन्न प्रकाशरूप हो जाता है। जो अपनी पूर्णता में शिव था वही संकोच ग्रहण के कारण जीव बन जाता है। भेद दृष्टिमयी माया के प्रभाव से इस स्तर पर उतरा हुआ शिव अपने प्रमातृ अंश 'अहं' को अपने प्रमेय अंश 'इदम्' से सर्वथा भिन्न समझने लगता है। उसकी अभेद दृष्टि इस अवस्था में सर्वथा छिप जाती है और भेद दृष्टि से देखता हुआ शुद्ध 'अहं' रूपी अपनी संवित् स्वरूपता को भूल जाता है और अपने आप को संकुचित् संवित् के रूप में समझने लगता है तथा अपने प्रमेय अंश 'इदम्' को अपने से सर्वथा भिन्न अचेतन मानने लगता है।

अद्वैत-वेदान्त में भी माया की अवधारणा प्रतिपादित की गई है तथा माया या अविद्याकृत अध्यास का आलम्बन कर सम्पूर्ण लौकिक वैदिक व्यवहार, विधि और निषेध तथा मोक्ष की व्याख्या की गई है। माया से उपहित ब्रह्म ईश्वर के रूप में प्रकट होकर जीवों के पूर्व के कर्मों के अनुसार संसार की सृष्टि करता है। इसलिए यहाँ माया की प्रवृत्ति आगन्तुक है। यह सदसद् विलक्षण होने से अनिवर्चनीया है। यह परमसत्ता से असंहत रूप से सम्बद्ध है और अन्ततोगत्वा इसे मिथ्या कहा जाता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में माया की प्रवृत्ति आगन्तुक नहीं है। वह आत्मा का स्वेच्छया गृहीत रूप है। जिस प्रकार अभिनेता जानबूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, उसी प्रकार परमशिव भी अपनी इच्छा मात्र से अनेक प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। परमेश्वर परम स्वतन्त्र हैं। अपने स्वरूप को छिपाने में भी समर्थ हैं और उसे प्रकट करने में भी। जब वह स्वरूप को छिपाता है तब भी वह अनावृत रूप से च्युत नहीं होता। माया उसकी उपाधि नहीं प्रत्युत् उसकी सृष्टि है। सृष्टि की भेदाभेद अवस्था में परमशिव सामान्य इदं रूपी अपने विषय को ही स्वयं माया नामक अशुद्ध तत्त्व का रूप देकर उसकी सृष्टि करते हैं। इनकी सृष्टि होने से माया उन्हें वैसे प्रभावित नहीं कर सकती जैसे अद्वैत-वेदान्त के ब्रह्म

को माया प्रभावित कर देती है। यह उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मेष मात्र है।

स तया परिमितमूर्तिः संकुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान् ।
रविरिव संध्यारक्तः संहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः ।।६।।

अविकार्यस्यापि तस्य चिदात्मनः स्वशक्तीनां संकोचनपुरःसरं शक्तिदारिद्रयमापन्नस्य अण्वपरपर्याया पुरुषसंज्ञा, संहृतशक्तित्वेन परिमितात्मा स स्वात्मैश्वर्यमपि प्रत्यभिज्ञातुमपटुः संचरति विचित्रयोनिषु। यदा पुनः शक्तिपाततारतम्यात् विद्याभिज्ञापितैश्वर्यः स्वाङ्गकल्पमेव विश्वं प्रत्यभिजानीयात् तदा जीवच्छिवभावं प्रत्यापद्यते।।६।।

वह (परमशिव) उसके (माया) द्वारा समस्त शक्तियों को संकुचित कर दिये जाने से सीमित रूप हो गया पुरुष (तत्त्व) है। वह सन्ध्या के समय रक्ताभ हो गये सूर्य के समान है जो (प्रकाश करने की) शक्तियों के संकुचित (क्षीण) हो जाने से स्वयं को प्रकाशित करने में भी असमर्थ होता है।।६।।

अविकारी होते हुए भी उस चिदात्मा (चैतन्यरूप परमतत्त्व) की अपनी शक्तियों का संकोचन (संकुचित) हो जाने से शक्ति रहित हो जाने से अणुरूप पुरुष की संज्ञा प्राप्त करता है, शक्ति के सीमित हो जाने से परिमित रूप हो गया आत्मा अपने ऐश्वर्य को (पूर्ण रूप को) पहचानने (प्रत्यभिज्ञान) में असमर्थ विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है (अर्थात् विभिन्न जन्म-ग्रहण करता है)। जब पुनः शक्तिपात होने से ऐश्वर्य प्रकाशित होता है तो विश्व को अपना ही स्वरूप जानकर जीव शिवभाव को प्राप्त करता है।।६।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि माया परमशिव की शक्तियों को सीमित कर देती है अर्थात् उन पर आवरण डाल देती हैं जिससे वह सीमित रूप में अभिव्यक्त होने लगता है। यह अवस्था ही पुरुष तत्त्व की अवस्था है। इस अवस्था में परमशिव अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने में असमर्थ होता है अर्थात् यहाँ से उसकी बद्धावस्था प्रारम्भ होती है। टीकाकार का कहना है कि परमशिव अविकारी है, उसमें कोई भी वास्तविक परिवर्तन नहीं होता फिर भी शक्तियों का परिसीमन हो जाने से वह अणुरूप पुरुष से अभिहित होता है। यह उसकी बद्धावस्था है। इस अवस्था में उसके वास्तविक स्वरूप का उसे विस्मरण हो जाता है, फलतः वह विभिन्न योनियों में जीवरूप ग्रहण कर भ्रमण करता रहता है। पुनः शक्तिपात के

द्वारा जब उसे अपने पूर्व स्वरूप का ज्ञान होता है तब वह समस्त विश्व को अपना स्वरूप समझता हुआ पुन: शिवभाव को प्राप्त कर लेता है।

जब परमतत्त्व माया और इसके कंचुकों के प्रभाव से सीमित विषयी का रूप ग्रहण कर संसारी हो जाता है तो इसे पुरुष कहा जाता है। परमशिव अपनी स्वतन्त्रेच्छा से अपने परिपूर्ण स्वभाव को छिपाकर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता को भूल जाने की कल्पना कर डालता है और ऐसा हो जाने पर अपने आपको अगणित अल्पज्ञ और अल्पकर्ता जीवों के रूप में प्रकट कर देता है। शिव का अपने स्वातन्त्र्य भाव से परिगृहीत यह परिमित भाव ही पुरुष तत्त्व है। इस अवस्था में आत्मा सीमित हो जाता है और अपने मूलस्वरूप को भूल जाता है। पाँच सर्वोच्च मूल शक्तियों, चित्, आनन्द आदि के स्थान पर आत्मा अब कला, विद्या आदि माया के पञ्चकञ्चुकों के प्रभाव में आकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। पुरुष अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न नाम ग्रहण करता है। जब यह शरीर आदि से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, यह देह प्रमाता कहलाता है। जब यह विश्व के किसी विषय के सम्बन्ध से स्वतन्त्र रहता है जैसे प्रलय में तो यह प्रलयाकल कहलाता है। जब यह कर्म से स्वतन्त्र रहता है तो इसे विज्ञानाकल कहते हैं। माया के पञ्चकञ्चुक रूपी पाशों से आबद्ध होने के कारण जीव को पशु भी कहा गया है। पुरुष तत्त्व अतीव संकुचित अहं का नाम है। यह अणु, जीव, पुमान, मितात्मा, पुद्गल आदि विविध नामों से अभिहित किया गया है।

पुरुष तत्त्वत: शिव ही है किन्तु माया के तिरोधानकारी प्रभाव से अपने स्वरूप को भूलकर परिमित जीव बन जाता है। इस प्रकार अज्ञानवश अपने को बन्धन में डाल देता है। जब तक उसे शिव भाव के स्वातन्त्र्य का बोध नहीं हो जाता तब तक वह अनेकानेक जीव योनियों में संचरण करता हुआ अपने कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख आदि को भोगता रहता है। आत्मस्वभाव की पूर्णता की अभिव्यक्ति हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।

काश्मीर शैव दर्शन तथा सांख्य दर्शन के पुरुष तत्त्व विषयक अवधारणाओं में उल्लेखनीय साम्य है। दोनों ही दर्शन पुरुष बहुत्व को स्वीकार करते हैं। दोनों की दृष्टि में प्रकृतिकृत गुणमयी सृष्टि का प्रयोजन पुरुष के कर्मों के अनुसार उसके भोग और मोक्ष के लिए क्षेत्र प्रदान करना है। पुरुष में मल और माया सहित कञ्चुकों

का आवरण मानना काश्मीर शैव दर्शन की अपनी विशेषता है जो सांख्य दर्शन में नहीं है। सांख्य की दृष्टि में असंख्य पुरुष स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ताएँ हैं। परन्तु काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार पुरुष परमसत्ता के आभास हैं। एक स्वप्रकाश संविद् ही भिन्न-भिन्न आत्माओं में स्फुरित होता है। सांख्य के अनुसार पुरुष पुष्करपलाशवत् निर्लेप किन्तु चेतन होता है। काश्मीर शैव दर्शन पुरुष को उतना ही चेतन मानते हुए भी मल और पञ्चकञ्चुकों के प्रभाव को संयुक्त करके उतना निर्लेप स्वीकार नहीं करता।

सम्पूर्णकर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य।
संकोचात्संकुचिताः कलादिरूपेण रूढयन्त्येवम्।।७।।

शक्त्यन्तरक्रोडीकारिण्यास्वातन्त्र्यशक्त्यावियुक्तत्वादेवपरमेश्वरस्य बहुशक्तित्वं, संकोचग्रहणादेव सर्वास्तच्छक्तयः संकुचितीभूय कलादितत्त्वपञ्चकेन प्ररोहमुपगच्छन्ति। ता यथासर्वकर्तृता सर्वज्ञता तृप्तिः नित्यता स्वातन्त्र्यमिति, एतत्पञ्चकं शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा, -परमेशविषयतया शुद्धं, संसारविषयतया तु अशुद्धम्।।७।।

सम्पूर्ण कर्तृत्व आदि अनेक उसकी शक्तियाँ हैं किन्तु उनके (शक्तियों के) संकुचित हो जाने से वे सब संकुचित होकर कला आदि (पञ्चकञ्चुकों) के रूप में इस प्रकार आभासित होती हैं (अर्थात् पुरुष के रूप में परमशिव को आभासित करती हैं)।।७।।

स्वातन्त्र्य शक्ति से अवियुक्त रूप (अभेद रूप) से रहते हुए उसी में समाहित परमेश्वर की अनेक शक्तियाँ (हैं), संकुचित हो जाने पर वे सभी शक्तियाँ संकुचित होकर (सीमित होकर) कला आदि पाँच तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। वे सभी जैसे— सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञता, आत्मसंतुष्टि (तृप्ति), नित्यता तथा स्वातन्त्र्य हैं, ये पाँच शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो प्रकार के हैं— परमेश्वर के सन्दर्भ में ये शुद्ध हैं तथा संसार के सन्दर्भ में ये अशुद्ध हैं।।७।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव में सर्वशक्तिमत्ता (सर्वज्ञता आदि) अनेक शक्तियाँ हैं। यह सभी शक्तियाँ परमशिव द्वारा सीमित (पशुरूप) रूप ग्रहण करने पर संकुचित होकर कला आदि पञ्च कञ्चुकों के रूप

में अभिव्यक्त होती हैं। टीकाकार का कहना है— कि परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति अनेक शक्तियों से अभेदरूप से युक्त है। ये शक्तियाँ हैंसर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, नित्यता, तृप्ति तथा स्वातन्त्र्य। ये सब शक्तियाँ ही परमशिव द्वारा संकोच ग्रहण कर लेने पर कला, राग, विद्या, काल तथा नियति के रूप में अभिव्यक्ति होती हैं। परमशिव की माया शक्ति के रूप में अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति के रूप में तो ये शुद्ध कही जाती हैं किन्तु जब ये पुरुष को प्रभावित कर संसार की दृष्टि से देखी जाती हैं तो ये अशुद्ध कही जाती हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में माया से क्रमशः कला, विद्या, राग, काल तथा नियति का प्रादुर्भाव माना गया है। कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थ माया ही कहे जाते हैं। पुरुष के स्वरूपाच्छादन होने के कारण ये कला आदि पञ्च कञ्चुक अथवा माया षट्-कञ्चुक कहलाते हैं। ये तत्त्व परिमित शक्तियाँ ही हैं। माया जनित ये शक्ति संकोच जीव के पूर्ण स्वरूप को आवृत्त किये रहने के कारण इन कञ्चुकों को जीव का बन्धन या पाश भी कहा जाता है। ये पाश जीव के बाह्य बन्धन न होकर उसके अन्तरंग स्वभाव-संकोच के धर्म हैं। परमशिव सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक असंकुचित शक्ति सम्पन्न होता हुआ भी, अपनी इच्छा से संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल तथा नियति, माया के इन पाँच कञ्चुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है। इन्ही पाँच कंचुकों के कारण क्रमशः परमशिव के उपर्युक्त गुणों में भी संकोच हो जाता है। इसलिए कुछ ही करने का सामर्थ्य, कुछ ही जानने का सामर्थ्य, अपूर्णता का बोध, अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान 'पुरुष' को अपने में होने लगता है।

काश्मीर शैव दर्शन का जीव रूप प्रमाता पुरुष वास्तव में संवित् स्वरूप ही होता है। परन्तु संकुचित हो जाने के कारण उसमें स्वातन्त्र्य रूप ऐश्वर्य की अनुभूति का अभाव होता है। इसलिए संवित् स्वरूप होते हुए भी उसे शिव न कह कर जीव कहा जाता है। ऐश्वर्यहीनता के कारण यह सीमित होता है। इस प्रकार माया के कारण संवित् स्वरूप होते हुए भी प्रमाता अपनी संवित् स्वरूपता को भूल कर सीमितता को ही अपना स्वरूप समझने लगता है। इस तरह से माया प्रमाता की चेतना का अपहरण करती है और ऐसा करके उसे परिच्छिन्न बना देती है।

तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा ।
किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ।।८।।

गोपितस्वरूपत्वान्निरुद्धशक्तेः परमेश्वरस्य सर्वकर्तृताशक्तिः प्राणादिपरिमितप्रमातृभावे किंचित्कर्तृतोद्वलनात्मना कलनेन अधःप्रक्षेपात् कलातत्त्वात्मतां याति, यद्वशात् किंचिदेव कर्तुमुत्सहतेऽणुः न सर्वत्र कर्तृत्वमिति।।८।।

उसकी (परमशिव की) सर्वकर्तृता (सब कुछ कर सकने की शक्ति अथवा सामर्थ्य) को वह (माया) संकुचित करके कुछ ही अर्थमात्र (कुछ ही कर सकने की सामर्थ्य वाली) वाली के रूप में परिवर्तित करके उसे अल्पकर्ता बना देती है तो उसे कला नाम से कहा जाता है।।८।।

स्वरूपाच्छादन से निरुद्ध (सीमित) हुई शक्तियों से परमेश्वर की सर्वकर्तृत्व शक्ति प्राणादि से परिमित प्रमातृभाव (देह प्रमाता) ग्रहण कर के किञ्चितकर्तृत्व वाली होकर (कुछ ही कर सकने में समर्थ होकर) कार्य करने से कला तत्त्व हो जाती है (कला तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है), जिसके वश में होकर अणु कुछ ही कर सकने में समर्थ होता है; न कि सर्वत्र और सब कुछ।।८।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमेश्वर की सर्वकर्तृत्व शक्ति जब सीमित होकर कुछ ही कर सकने में समर्थ होती है तो वह कला तत्त्व से अभिहित होती है। टीकाकार कारिका का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि परमशिव की स्वरूप शक्ति सब कुछ करने में समर्थ है किन्तु स्वरूपाच्छादन हो जाने के कारण वह देहप्रमाता (पशु) के रूप में अभिव्यक्त होती है, इस अवस्था में वह सर्वकर्तृत्व शक्ति कुछ ही कर पाने में समर्थ होती है। उसकी सर्वकर्तृत्वशक्ति सीमित हो जाती है जिसके कारण परमशिव अणु रूप में अभिव्यक्त होता है।

कला तत्त्व की उत्पत्ति माया से होती है। यह आत्मा के सर्वकर्तृत्वस्वरूप को आच्छादित कर देती है। तदनन्तर जीव को परिमित कर्तृत्व का अनुभव कराती है। इस अवस्था में 'कुछ करता हूँ' का अनुभव होने लगता है। काश्मीर शैव दर्शन में कला को तत्त्व रूप में शास्त्रीय मान्यता प्राप्त है क्योंकि इसके द्वारा ही मानव की परिमित शक्ति की व्याख्या होती है। कला से ही प्रधान (प्रकृति) की उत्पत्ति होती है। कला माया का कार्य तथा विद्यादि का कारण भी है। अर्थात् अग्रिम विद्या, राग, काल आदि चार तत्त्वों की उत्पत्ति कला से होती है। कला तत्त्व माया का

प्रथम उत्पादन है।कहीं-कहीं काल को भी प्रथम कञ्चुक कह दिया गया है। माया प्रमाता की चेतना का अपहरण कर उसे जड़-सा बना देती है। पर पूर्ण जड़त्व से काम भी नहीं चल सकता अत: काम चलाने के लिए थोड़ा-सा चेतना का अंश दे भी देती है। वह चेतना का अंश उसे कुछ-कुछ करने की शक्ति प्रदान करता है। यह कला तत्त्व है जो आत्मा के लिए क्रियाशक्ति एकत्रित करता है।

सर्वज्ञतास्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा ।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः।।९।।

एवं तस्यैव सर्वज्ञताशक्तिः संकोचं गृहीतवती किंचिज्ज्ञेयमात्रपरत्वेन ज्ञानोत्पादनात् विद्यातत्त्वं, विद्ययैव बुद्धिदर्पणे प्रतिफलिता भावा विविच्यन्ते-गुणसंकीर्णतया तस्या विवेक्तुमक्षमत्वात्, तस्मात् विद्ययैव अर्थविवेकः।।९।।

उसकी (परमशिव की) सर्वज्ञता शक्ति (सब कुछ जानने की शक्ति) सीमित होकर अल्पज्ञान मात्र (कुछ ही वस्तुओं को जानने की सामर्थ्य) होकर ज्ञान पैदा करती है, इसे प्राचीन काल से बुद्धिमानों (विद्वान् दार्शनिकों) ने विद्या कहा है।।९।।

इस प्रकार उसकी ही सर्वज्ञता शक्ति संकुचित होकर (संकोच ग्रहण करके) कुछ ही जान सकने मात्र की होकर ज्ञान का उत्पादन करने से विद्या तत्त्व है, विद्या के द्वारा ही बुद्धि के दर्पण (पटल) पर पड़े हुए भावों की विवेचना होती है— उसके (बुद्धि) द्वारा गुणों का कीर्तन (वर्णन या गणना) कर देने मात्र से विवेचना नहीं हो पाती, इसलिये विद्या के द्वारा ही अर्थ विवेक (तात्पर्यबोध) हो पाता है।।९।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव की ज्ञान शक्ति, जो कि सर्वज्ञता रूप है, सीमित हो जाने से कुछ ही जान सकने में समर्थ होकर जब अभिव्यक्त होती है तो उसे विद्या तत्त्व कहते हैं। टीकाकार का कहना है कि संकोचग्रहण के पश्चात परमेश्वर की सर्वज्ञता शक्ति ही सीमित होकर विद्या तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। बुद्धि तत्त्व से विद्या तत्त्व का अन्तर स्पष्ट करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि बुद्धि विषयों की गणना मात्र कर सकती है, उनमें अन्तर स्पष्ट नहीं कर सकती। यह कार्य विद्या तत्त्व द्वारा ही संपादित होता है।

विद्या तत्त्व के प्रभाव से परम प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की सर्वज्ञशक्ति अर्थात् ज्ञान शक्ति संकुचित हो जाती है। बाद में चेतन एवं अचेतन इन्द्रियादि में सीमित ज्ञान का उदय होता है। सीमित ज्ञान का मुख्य कारण होने से इसे विद्या कहा जाता है। अत: प्रमेयों को अपने से सर्वथा भिन्न समझता है। उसकी इस संकुचित ज्ञानरूपा विद्या को 'अशुद्ध विद्या' कहा जाता है। यह पुरुषों में विवेक शक्ति के रूप में स्थित है। इन्द्रिय प्रणालिकाओं से बुद्धि में सुख-दुख आदि प्रतिसंक्रान्त होते हैं और उसका विवेचन विद्या करती है। यह बुद्धि रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित नील-पीत आदि बाह्य और सुख-दु:ख आदि आभ्यन्तर वेद्यभावों का विवेचन करके जीवात्मा को उनसे होने वाले सुख दुखादि प्रत्ययों से अवगत कराती है। विद्या ज्ञान की सीमित शक्ति है, जो सर्वज्ञता के स्थान पर सीमित ज्ञातृता को उत्पन्न करती है। यह बुद्धि तत्त्व से भिन्न है जो अचेतन है। बुद्धि सत्वरूपा होते हुए भी गुणों का कार्य होने के कारण जड़ है। इसलिए जड़रूपा बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित भावों को पृथक्-पृथक् कर उनसे उत्पन्न सुख-दु:ख आदि प्रत्ययों का ज्ञान मितात्मा को नहीं करा सकती।

नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता।।१०।।

परमेश्वरस्य नित्यपरिपूर्णतृप्तिर्नाम शक्तिः पारिमित्यं याता यत्र क्वचन उपादेयाद्यभिमते 'किंचिन्मे भूयात्' इति सामान्येनाभिष्वङ्गमात्रा-दापद्यते रागतत्त्वम्। विशेषाभिष्वङ्गस्तु अस्यैव पल्लवितप्राय इति एतदेव कलाविद्ययोः प्रागुक्तयोःकिंचिद्भागे निमित्तम्।।१०।।

उसकी (परमशिव की) नित्य पूर्ण तृप्त (सन्तुष्ट) रहने वाली शक्ति सीमित होकर भोगों में निरन्तर आसक्त रहने वाली बनकर राग तत्त्व हो जाती है।।१०।।

परमेश्वर की नित्य परिपूर्ण तृप्ति नामक शक्ति सीमित हो जाती है तो इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए यह भाव उठता है कि 'यह मेरी हो जाय' तो यह आसक्ति पैदा करने वाली इच्छा ही राग तत्त्व है। विशेष रूप से आसक्ति का फैलना कभी-कभी कला और विद्या से भी माना जाता है जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है।।१०।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव की शक्ति पूर्ण है। वह नित्य रूप से तृप्त है। उसमें किसी भी प्रकार की आसक्ति या कमी नहीं रहती किन्तु वही शक्ति जब सीमित होकर राग तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है तो विषय भोगों के प्रति निरन्तर आसक्ति पैदा करने लगती है। टीकाकार का कहना है कि सीमित हो जाने पर कुछ वस्तुओं के लिये जो यह इच्छा होती है कि यह मेरी हो जाय, यह राग तत्त्व के कारण है। आसक्ति का कारण कला, विद्या के कारण भी माना जाता है किन्तु इसका विशेष रूप से फैलना राग तत्त्व के कारण ही होता है।

राग तत्त्व पूर्णत्व को परिमित करके पुरुष में इच्छा या कामना का उदय कराता है। इस प्रकार यह सीमित इच्छा शक्ति ही है जिस पर किसी वस्तु का वरण करना अथवा निषेध करना निर्भर है। सुन्दरता आदि गुणों का शरीर के ऊपर अध्यारोप राग तत्त्व ही के कारण होता है। इस राग तत्त्व नामक कञ्चुक को वैराग्य का अभावरूप राग नहीं समझा जा सकता क्योंकि वह तो बुद्धि का एक धर्म विशेष है, पुरुष का कञ्चुक नहीं। यह राग तत्त्व बुद्धि के धर्म 'स्थूल-राग' से सूक्ष्मतर है। माया से स्वरूप संकोच हो जाने के कारण मितात्मा समस्त विश्व को आत्मभाव से न देखकर शरीर जैसी वस्तु को 'अहम्' (मैं) अथवा मम (मेरा) समझता है तथा उसे अत्यन्त गुणशालिनी मानने लगता है। मितात्मा के देह आदि प्रमातृभाव और प्रमेय में इस तरह के गुणारोपणमय आसक्ति को राग कहते हैं। राग व्यक्तियों में विषय के लिए लालसा उत्पन्न करता है। शाश्वत संतुष्टि के अनुभव के बदले यह आत्मा में काल की सीमितता को उत्पन्न करता है। इसके कारण जो शाश्वत है वह क्षणिक जैसा प्रतीत होता है। यह राग तत्त्व मितात्मा को भेदगत भोगों में अनुरंजित करता है। यह राग तत्त्व द्वेष के विरोधी भाव राग से भिन्न है। वह अन्तःकरण का एक स्वभाव होता है। राग तत्त्व अन्तःकरण के तत्त्वों से बहुत ऊपर स्थित है। यह मायीय प्रमाता को पुरुष तत्त्व के रूप में प्रकट करने वाला एक संकोचक तत्त्व होता है।

सा नित्यतास्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदय प्रदानेन ।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात्कालतत्त्वरूपेण ।।११।।

अकालकलितस्य चिदात्मनो नित्यत्वाख्या शक्तिः न्यग्भावमाश्रित्य

कार्यारूषितकर्तृत्वकलनया अणुं तुट्यादिक्रमाभासनात्मना कालेन संयोज्य कालतत्त्वव्यपदेश्या कल्प्यते, येन अयमणुः भूतादिक्रिया-क्रमकलितः कालवशतामापद्यते।।११।।

नित्यता रूप इसकी (परमशिव की) वह शक्ति संकुचित होकर जन्म और मृत्यु रूप नियत परिच्छेदों (विभेदों) में अवभासन करने लगती है तो यह काल तत्त्व है।।११।।

काल (की सीमा से) से अप्रभावित परमशिव (चिदात्मा) की नित्य शक्ति संकुचित होकर अणु रूप में भासित होने पर काल के संयोग से क्रमिक अवभासन करने लगता है, उसका कर्तृत्व काल से नियमित हो जाता है, यह काल तत्त्व कहा जाता है, जिसके कारण यह अणु हो जाता है तथा उसकी क्रिया भूतादि (भूत, वर्तमान, भविष्य) के क्रम में होकर काल की शक्ति में आ जाती है।।११।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमेश्वर की शक्ति नित्यता रूप है अर्थात् काल की सीमा से परे है किन्तु संकोच ग्रहण कर लेने पर वह काल क्रम की सीमा में आ जाती है। उसका आभासन जन्म मृत्यु जैसे विभागों में होने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमशिव की शक्ति संकोच ग्रहण करने के पश्चात् काल-क्रम से नियमित हो जाती है। टीकाकार का कहना है कि काल तत्त्व के कारण ही चिदात्मा अणु रूप में आभासित होता है। जो वास्तव में अकाल है वह अणुरूप होकर भूत, वर्तमान आदि के क्रम से अपनी क्रियाओं का सम्पादन करने लगता है।

काल तत्त्व चिदात्मा के नित्यत्व स्वरूप को संकुचित कर उसको काल-क्रम में ग्रथित कर परिमित कर देता है। वह पूर्ण नित्यत्व भूत, भविष्य तथा वर्तमान के क्रम में आबद्ध हो जाता है तथा इसी के अनुसार अनुभव भी करने लगता है। इस अवस्था में उसे कोई वस्तु पहले और कोई पीछे तथा कोई अनन्तर अवभासित होने लगती है। इस प्रकार के पौर्वापर्य का क्रम 'काल' कहलाता है। इस क्रमरूपता का अवभासन करने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही 'काल शक्ति' कही जाती है। मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ अथवा अमुक वस्तु मुझे पूर्व ज्ञात थी, जानता हूँ तथा जानूँगा आदि नाना प्रकार की कल्पनाएँ काल तत्त्व के द्वारा ही हुआ करती हैं।

यास्य स्वतन्त्रताख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः।।१२।।

स्वातन्त्र्यमेव अस्य परप्रमातुः संकुचत् नियतितत्त्वतामाभासयति, यतः कार्याकार्येषु नियमाधानात् विशिष्टे कार्ये विशिष्टं कारणमेव आदध्यान्नानियतमिति। एतेन कलादिना कञ्चुकेन आवृतोऽयं शक्तिदारिद्रयमनुभूय कलादिमुखेनैव स्ववैभवात् प्रतिवितीर्णकिंचिदंशः पशुरित्युच्यते।।१२।।

उसकी जो स्वतन्त्रता नामक शक्ति है वही संकोचशालिनी (संकुचित) होकर उसे कृत्य-अकृत्य (करणीय तथा अकरणीय) के नियंम के अन्तर्गत नियमित करती हुई नियति है।।१२।।

परप्रमाता (परमात्मा) का स्वातन्त्र्य ही संकुचित होकर नियति तत्त्व के रूप में आभासित होता है, जिसके कारण कार्य-अकार्य के नियम के अनुसार विशिष्ट कारण से विशिष्ट कार्य होने के नियम में आ पड़ना नियति तत्त्व है। इस प्रकार कला आदि कञ्चुकों से आवृत्त शक्ति का दारिद्रय (अर्थात् शक्ति रहितता) अनुभव करके कला आदि के द्वारा अपना वैभव समाप्तप्राय (विखरित करके) करके कुछ अंशों में उसे (वैभव को)रखा हुआ पशु से अभिहित होता है।।१२।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति संकोच ग्रहण कर लेने के पश्चात् नियमों में आबद्ध हो जाती है। संकोच की अवस्था में यह अब कार्य कारण के नियम से संचालित होने लगती है। इस अवस्था को ही नियति तत्त्व कहा जाता है। टीकाकार का कहना है कि संकुचित शक्ति के कारण परमात्मा का वैभव (पूर्णत्व) अब किञ्चिद् मात्र ही रह जाता है। इस अवस्था में आ जाने पर परमात्मा पशु से अभिहित होता है।

नियति तत्त्व परम स्वातन्त्र्य एवं व्यापकत्व को सीमित कर एक निश्चित नियमितता का प्रसार करता है। इसके अनुसार एक निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य का निकलना हो सकता है। इस प्रकार जिस पुण्या-पुण्य से आत्मा का नियमन होता है वही इसका नियति तत्त्व है। नियति वह शक्ति है जो विषयी की कारणात्मक क्षमता को सीमित करती है। यह सीमित कर्त्ता के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती

है।

विद्या और कला के द्वारा जीवात्मा कुछ वस्तुओं को जानने और करने में समर्थ होता है किन्तु किंचित्-रूप समझे जाने वाले वेद्य अंशों के समान होने पर भी वह 'कुछ' के प्रति ही क्यों उन्मुख होता है और 'अन्य' के प्रति उन्मुखता क्यों नहीं होती। विद्या और कला का नियमन राग करता है और राग का यह नियमन नियति करती है। नियति के नियमों के अनुसार ही जीव में वस्तु विशेष के प्रति राग उदय होता है। यह मूलत: सबकी नियामिका है। इसी के नियम के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व कर्मों के फल भोगने के लिए बाध्य बना रहता है।

इच्छादित्रिसमष्टिः शक्तिः शान्तास्य संकुचद्रूपा।
संकलितेच्छाद्यात्मक सत्त्वादिकसाम्यरूपिणी तु सती।।१३।।
बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः।
इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहंप्रतीति करी।।१४।।

अस्य शान्ताख्या शक्तिर क्षुब्धत्वात् इच्छादीनां शक्तीनां गर्भीकरणात् समष्टिरूपा, पारिमित्यग्रहणाच्च गुणानामविभागावस्था प्रकृतितत्त्वम्। गुणानामिच्छादिशक्तित्रिकेन अन्वारब्धत्वात् त्रित्वं — यत्प्रक्षोभात् प्राकृतिकसर्गस्य प्रसरः। तत्र चित्तात्मके बुद्ध्यहंकृन्मनांसि साम्यावस्था-मधिश्रयन्ति। अत्र तत्त्वक्रमप्रसरे शिवादिसकलान्तेषु प्रमातृवर्गेषु ज्ञानक्रियाशक्ती एव मुख्यमुपकरणं, ते एव संकुचद्रूपे ईश्वर-शुद्धविद्ये, संकुचिते विद्याकाले, अत्यन्तं संकुचिते बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि, क्रियायाः संकोचसीम्नि भूतसूक्ष्मादि इति विज्ञेयम्। अणोः रजः परिणामिणी इच्छाशक्तिः अहमित्यभिमानलक्षणा अहंकृतिः।।१३-१४।।

उसकी इच्छा आदि (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) तीन शक्तियों की समाप्ति, जो शान्ता कही जाती है, संकुचित हुई इच्छा आदि सत्त्व आदि (सत्, रज, तम) की साम्यावस्था रूप हो जाती है।।१३।।

जब बुद्धि आदि चित्त के रूप में स्वरूप में ही साम्यावस्था में रहती हैं तो वह प्रकृति कहलाती है। उसकी इच्छा रजो रूप अहंकार के रूप में होती है जो अहंकार का अनुभव कराती है।।१४।।

उसकी शान्ता नामक शक्ति जो इच्छा आदि शक्तियों को अपने गर्भ

में धारण करती हुई (समाहित करती हुई) समाप्ति रूपा है तथा अक्षुब्ध है (साम्यावस्था में है), परिसीमित हो जाने से गुणों के अविभाग की अवस्था (साम्यावस्था) प्रकृति तत्त्व है। गुणों की अभिव्यक्ति इच्छा आदि (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) तीन शक्तियों के कारण है, जिसके क्षोभित (क्षुब्ध) होने पर प्राकृतिक सर्ग (प्रकृति के उत्पादन) की सृष्टि होती है। वहाँ चित्त की साम्यावस्था में बुद्धि, अहंकार तथा मन रहते हैं। यहाँ तत्त्वों की अभिव्यक्ति के क्रम में शिव से लेकर सकल (आत्मा की सकलावस्था) तक के प्रमाता वर्ग में ज्ञान तथा क्रिया शक्ति ही प्रधान उपकरण (साधन) हैं, पुनः संकुचित होने पर ईश्वर तथा शुद्ध विद्या हैं, पुनः संकुचित होने पर वही विद्या तथा कला तत्त्व हैं तथा अत्यधिक संकुचित होने पर वे ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्रिया शक्ति के संकोचन से सीमित ही पाँच भूत तत्त्व तथा तन्मात्रायें हैं। अणु रूप आत्मा में सीमित हो गयी इच्छा शक्ति अभिमान का संकेत करने वाली अहंकार है।।१३-१४।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ, जिनकी समष्टि को शान्ता कहते हैं, संकुचित हो जाने पर सत्त्व, रज तथा तम की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। चित्त में, जो कि प्रकृति का उत्पादन है, बुद्धि आदि साम्यावस्था में रहते हैं तथा जब इसमें (प्रकृति में) क्षोभ होता है तो उसी से अहंकार, बुद्धि आदि उत्पन्न होते हैं। टीकाकार का कहनां है कि परमेश्वर की इच्छा आदि शक्तियाँ ही संकोच ग्रहण करने के पश्चात् सत्त्व, रज तथा तम के साम्यावस्था में प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। इस साम्यावस्था में क्षोभ हो जाने पर जगत् की सृष्टि होती है जिसमें बुद्धि आदि अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ एवं पञ्च महाभूत तथा पञ्च तन्मात्र अभिव्यक्त होते हैं। शिव से लेकर क्षितिपर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि परमशिव की इच्छा आदि शक्तियों का ही संकुचित से अतिसंकुचित रूप में अभिव्यक्ति है। परमशिव के भेदमय दृष्टिकोण से अवभासित होता हुआ उसका जो वेद्य रूप विश्व का अविभक्त सामान्य रूप है उसे प्रकृति तत्त्व कहा जाता है। यह सत्त्व, रजस और तमस की साम्यावस्था है। महत् तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्वों का मूल कारण प्रकृति तत्त्व है। शून्य आदि प्रमाता के अपने आप से व्यतिरिक्त वेद्यरूप वाले प्रकृति तत्त्व से कार्य और करण

भाव से तेईस प्रकार के प्रमेयों का विकास होता है। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उसकी भोग्या है। परन्तु वास्तव में दोनों एक ही हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। जिस प्रकार पुरुष जगद् उन्मेष रूपी क्रीड़ा करने वाले परमेश्वर की आत्म कल्पना है उसी प्रकार प्रकृति उसकी वेद्य कल्पना है। काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य, दोनों ही दर्शनों में प्रकृति को सत्त्व, रज और तम की अक्षुब्ध दशा माना गया है और इसके परिणामभूत सम्पूर्ण प्रमेयों को सुख-दुःख और मोहात्मक माना गया है। सत्, रज और तम, ये तीनों जगत् की भेदावस्था में परमेश्वर की क्रमशः ज्ञान, क्रिया और माया शक्ति की संकुचित अभिव्यक्तियाँ हैं। सांख्य दर्शन में प्रकृति जड़ है और पुरुष क्रिया विहीन होते हुए भी चेतन है। कर्तृत्व का अभाव होने से चेतन पुरुष प्रकृति के क्षोभ में कारण नहीं बन सकता है और पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप उसके भोगापेक्षिक अनादि संयोग से विक्षुब्ध होकर जगत् रूप में परिणामित हो जाती है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयमेव विक्षुब्ध नहीं होती प्रकृति को भगवान् अनन्तनाथ पुरुषों के कर्मों के आधार पर उन्हें सुख-दुःख का अनुभव कराने के लिए क्षुब्ध करते हैं। सांख्य दर्शन में असंख्य पुरुषों की प्रकृति एक है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति भी अनेक है। प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् प्रकृति है।

ज्ञानापि सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः।
तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी।।१५।।

सत्वपरिणामिनी ज्ञानशक्तिरेव अर्थाध्यवसायलक्षणा बुद्धिः। तमः परिणामिनी क्रियाशक्तिः। विकल्पकरणलक्षणं मनस्तत्त्व-मुच्यते।।१५।।

ज्ञान सत्त्व रूप है तथा निर्णयबोध (सविकल्पक ज्ञान) का कारण बुद्धि है। उसकी क्रिया तम रूप है तथा संकल्प-विकल्प करने वाला मन है।।१५।।

सत्त्व के रूप में परिणमित ज्ञान शक्ति ही अर्थ का अध्यवसाय (सविकल्पक ज्ञान) करने वाली बुद्धि है। तम के रूप में परिणमित हुई क्रिया शक्ति है। विकल्पों का कारण बनने वाला (यह) मनस् तत्त्व कहा जाता है।।१५।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव की ज्ञानशक्ति ही संकोच

ग्रहण करने के पश्चात् सत्त्व के रूप में परिणमित होती है तथा वही बुद्धि तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसकी क्रिया शक्ति ही तम रूप में परिणमित होकर मनस् तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। बुद्धि द्वारा ही ज्ञान में निश्चयात्मकता आती है तथा ज्ञान में जो संकल्प-विकल्प उठते हैं उनका कारण मनस् तत्त्व है। टीकाकार ने भी इसे ही स्पष्ट किया है।

मूल प्रकृति में क्षोभ के फलस्वरूप गुणों में विषमता आ जाती है। अपने परिणाम-क्रम में प्रकृति सर्वप्रथम अन्त:करणों के रूप में प्रकट होती है। अन्त:करणों में सबसे पहले सत्त्वगुण प्रधान महत् तत्त्व प्रकट होता है। इसी तत्त्व को बुद्धि तत्त्व कहा जाता है। यह एक स्वच्छ जड़ तत्त्व होता है। अपनी स्वच्छता के प्रभाव से यह अगली सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को धारण कर सकता है। प्रमाता के प्रतिबिम्ब को धारण करने से यह चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है और चेतन की तरह कार्य करने लगती है। यह अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करती है। बुद्धि ही प्रतिबिम्बित विषय के नाम रूप की कल्पना करती है। प्रमेय को प्रकाशित करना और नाम रूप की कल्पना कर के यह ज्ञान का साधन बनती है। बुद्धि ही पुरुष का सबसे प्रधान और निकटतम करण तत्त्व है। बुद्धि इस स्थूल सृष्टि में पुरुष के शरीर के अन्त: अर्थात् भीतर रह कर ही कार्य करती है। अत: इसे अन्त:करण कहा करते हैं। यह बाहर के विषयों को चक्षु आदि बाह्य करणों की सहायता के बिना प्रकट नहीं कर सकती। इसलिए भी यह बाह्य करण न होकर एक अन्त:करण ही होता है। इसके बिना पुरुष प्रमेय के प्रति किसी भी व्यवहार को कर ही नहीं सकता।

'करूँ या न करूँ' इस प्रकार संकल्प और विकल्प का कारण 'मन' है। मनस् अहंकार का उत्पादन है। यह जीव की 'मनन' शक्ति है। विषय ज्ञान के सन्दर्भ में जब इन्द्रियों द्वारा चित्त पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है तो सर्वप्रथम किसी वस्तु के होने का आभास मात्र होता है। उस क्षण में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु क्या है। इस प्रकार वस्तुत्व का आभास तो बुद्धि द्वारा हो जाता है परन्तु वस्तु के स्पष्ट और निश्चित नाम रूप की कल्पना नहीं हो पायी रहती। इस प्रकार की अवस्था में मन वस्तु के विषय में अनेकों सम्भाव्यमान नाम रूपों की कल्पना करती है। इस कल्पना की कर्त्री शक्ति को 'मन' कहते हैं। यह भी एक

अन्त:करण है।

वामादिपञ्चभेद: स एव संकुचितविग्रहो देव:।
ज्ञानक्रियोपरागप्राधान्याद्विविधविषयरूपोऽ भूत।।१६।।

स एव क्रीडादिसतत्त्वो वामदेवादिपञ्चमूर्तित्वात् संकुचितो भूत्वा ज्ञानशक्त्यु परञ्जनप्रधानतया ज्ञानेन्द्रियतद्विषयशरीरतां, क्रियाशक्त्युपाधिप्राधान्यात् कर्मेन्द्रियव्यापारवत्त्वं च उपादत्ते। शक्तिपञ्चकोपादानात् करणानां पञ्चधात्वं बोध्यम्।।१६।।

वाम आदि (वामदेव,अघोर, ईशान आदि) पञ्च भेदों (रूपों) वाले वह देव (परमशिव) ही संकुचित होकर ज्ञान-क्रिया (शक्तियों) के प्राधान्य के अनुसार विविध विषयों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।।१६।।

वह क्रीड़ाशील (परमशिव) ही वामदेव आदि पञ्च रूपों में संकुचित होकर ज्ञानशक्ति के प्राधान्य से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उनके विषय के रूप में एवं क्रियाशक्ति की उपाधि के प्राधान्य से कर्मेन्द्रियाँ एवं उनके व्यापार के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। पाँच ही शक्तियाँ पाँच प्रकार के करणों की अभिव्यक्ति की उपादान स्वरूप हैं।।१६।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव ही वामदेव, अनन्तनाथ, अघोर, ईशान एवं श्रीकण्ठ के रूप में संकुचित होकर ज्ञान तथा क्रियाशक्ति के प्राधान्यानुसार विभिन्न विषयों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। टीकाकार इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ज्ञानशक्ति के प्राधान्य से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उनके विषयों की अभिव्यक्ति होती है एवं क्रियाशक्ति के प्राधान्य से कर्मेन्द्रियाँ एवं उनके व्यापार की अभिव्यक्ति होती है। टीकाकार का कहना है कि ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति में उपादान कारण परमशिव की पाँच शक्तियाँ ही हैं। अहंकार के और परिणमित होने पर पाँच ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशुद्ध विद्या की सहायक कही गयी हैं । पुरुष की संकुचित ज्ञान सामर्थ्य को उसकी अशुद्ध विद्या कहा गया है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष के भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमतायें हैं जो उसके भिन्न व्यवहारों की साधन बनती हैं।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनजिह्वा-घ्राणानि बोधकरणानि।
शब्द स्पर्शौ रूपं रस-गन्धौ चेति भूतसूक्ष्माणि।।१७।।

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, शब्दादीनि तन्मात्राणि।।१७।।

श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, जिह्वा तथा घ्राण ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्रायें हैं।।१७।।

श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा शब्द आदि तन्मात्रायें हैं।।१७।।

व्याख्या:- कारिका में पञ्चज्ञानेन्द्रियों तथा पञ्चतन्मात्राओं को बताया गया है। टीकाकार ने इन पर कोई विशेष चर्चा नहीं किया है। ज्ञानेन्द्रियों में श्रोत्र शब्द और समस्त शब्दात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता हुआ उसे बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करता है। श्रोत्र पुरुष के सुनने की क्षमता को कहते हैं। यह स्थूल शरीर में कान के छिद्र में स्थित होता है। शीत, उष्ण, नम, कठोर आदि स्पर्शों को जानने की पुरुष की क्षमता को स्पर्श या त्वक् अथवा त्वचा कहते हैं। यह इन्द्रिय स्थूल शरीर के सारे अंगों में रहती है। रूप, वर्ण, आकार आदि जानने की पुरुष की क्षमता को अथवा साधन को चक्षु कहते हैं। यह इन्द्रिय स्थूल शरीर में आखों में रहती है। खट्टा, मीठा, नमकीन आदि स्वाद जान लेने का साधन बना हुआ पुरुष का करण साधन रसना है। स्थूल शरीर में इसका स्थान जीभ का अग्र भाग होता है। गन्ध को जान लेने के पुरुष के ज्ञान साधन को घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं। स्थूल शरीर में यह इन्द्रिय नाक के छिद्रों के मुख पर स्थित होती है। ये पाँचों इन्द्रियाँ विषयों के प्रतिबिम्बों को लेकर बुद्धि के दर्पण में डाल देती हैं। बुद्धि उन प्रतिबिम्बों को विशेष आकार में प्रकट करती है और बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष अपनी चेतना के बल से उन निर्विकल्प या सविकल्प आकारों को विषय के रूप में जान लेता है। ये इन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों में रहती हैं क्योंकि ऐसी मान्यता ं कि सूक्ष्म शरीर में भी रहता हुआ जीव सभी विषयों को ग्रहण कर सकता है।

अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः।
गगनमनिलश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि।।१८।।

अत्यन्तसंकोचग्रहणात् अचिद्रूपतामवभास्य आकाशादीनि पञ्चभूतानि।।१८।।

भूतों के स्वामी अतिनिकृष्ट (अति स्थूल) रूप ग्रहण करके स्वयं को पाँच भूत तत्त्वों (पञ्चमहाभूतों)-आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल तथा पृथ्वी-के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होता है।।१८।।

अत्यधिक संकुचित होकर जड़ (अचित्) का अवभासन करते हुए आकाश आदि पाँच भूत तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है।।१८।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि परमशिव जब अति स्थूल रूप में संकुचित रूप को अभिव्यक्त करता है तो वह आकाश आदि पाँच भूत तत्त्वों के रूप में अभिव्यक्त होता है। टीकाकार का कहना है कि यह उसकी अचित् रूप की अभिव्यक्ति है। ज्ञानेन्द्रियों के सूक्ष्म विषय जब परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते हैं तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक स्थूल पंच महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। आकाश का गुण शब्द है। इसी महाभूत के भीतर शब्द की तरंगे चलती हैं। वायु स्पर्श गुण प्रधान है, अग्नि रूप प्रधान, जल रस प्रधान और पृथ्वी गन्ध प्रधान है। आकाश से लेकर पृथ्वी तक क्रम से स्थूलता अधिक होती है। जो महाभूत जितना अधिक स्थूल होता है वह परिमाण में उतना ही अधिक विशाल होता है। सबसे कम स्थूलता आकाश में होती है और उसी का परिमाण सबसे अधिक होता है। सबसे थोड़ा परिमाण पृथ्वी का होता है और सबसे अधिक स्थूलता भी उसी में होती है।

श्रोत्रादिकरणवेद्याः शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम् ।
वचनकरी वागासीत् पाणिः स्यात्करणभूत आदाने ।।१९।।

शब्दादिज्ञानसाधनानि श्रोत्रादिकरणानि, वचनादिक्रियासाधनानि वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि।।१९।।

श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञेय विषय शब्द आदि हैं, ये अन्य के ज्ञान के साधन हैं। बोलने की इन्द्रिय (करण) वाक् है तथा ग्रहण करने की पाणि (हाथ) है।।१९।।

शब्द आदि को जानने का साधन श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा वचन आदि का करण वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं।।१९।।

व्याख्या :- कारिका का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार शब्द आदि को जानने के साधन श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उसी प्रकार वाणी आदि की क्रिया का करण (साधन) वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं। पुरुष के कार्य में उपयुक्त होने वाली उसकी इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इन कर्मेन्द्रियों के सहारे ही पुरुष किसी कार्य में क्षम होता है। वाक् उसके बोलने का साधन है। स्थूल शरीर में यह जीव के मुख

में रहती है। इस वाक् की अभिव्यक्ति प्राणवायु के आघात से होती है। इस वाक् को वैखरी वाणी कहते हैं। पुरुष के ग्रहण करने की क्रिया साधन पाणि इन्द्रिय कहलाता है। स्थूल शरीर में इसका स्थान हाथ है। यह क्षमता अंशतः पुरुष के अन्य अंगों में भी रहती है। यथा मुख में, पैर में, बगल में, आदि, जिससे वह वस्तु को ग्रहण कर सकता है।

गमन–विसर्गानन्दत्रितये पादादिकं करणम्।
गन्धवती भूमिः स्यादापः सांसिद्धिकद्रवास्तेजः।।२०।।
उष्णस्पर्शमस्पर्शो वायुरम्बरं सशब्दम् ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं वन्दे कौलं कुलातिगं शंभुम्।।२१।।

आदिना पायूपस्थौ गृह्येते। गन्धवत्त्वं भूमेर्लक्षणम्, सांसिद्धिक-द्रवत्वमब्लक्षणम्, उष्णस्पर्शेन तेजो लक्ष्यते, अरूपस्पर्शो वायुलक्षणम्, शब्द आकाशस्य इति प्रत्येकं मुख्यगुणनिर्देशः। तत्त्वानामुत्तरोत्तरं व्याप्य-व्यापकभावेन भूमिर्व्याप्या जलादिशिवान्तं व्यापकानि पञ्चत्रिंशत्, एवं भूतसृष्टौ भूमौ व्योमादिगुणा व्यापकत्वेन अनुगताः सन्ति। परमशिवतत्त्वस्य सर्वत्र अनुगतत्वात् विश्वमयतदुत्तीर्णयामल-कौलस्वरूपमेव भक्तानां समावेशार्हम्, इति वन्दनोपसंहारोक्त्या उपक्षिप्तम् इति शिवम्।।

इति षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहः श्रीमद्राजानकानन्दाचार्यविरचितविवरणोपेतः समाप्तः।।

पाद (पैर) आदि कर्मेन्द्रियाँ तीन क्रियाओं (कार्यों) - गमन, विसर्जन तथा आनन्द-के करण हैं। पृथ्वी का गुण गन्ध है, जल का द्रवता (रस) तथा अग्नि का गर्म स्पर्श (उष्णता), वायु अरूप है तथा स्पर्श उसका गुण है, आकाश का गुण शब्द है। मैं (लेखक) शिव को प्रणाम करता हूँ जो इस छत्तीस तत्त्वों के कुल का स्वरूप है तथा उसी समय इनसे अतीत भी है।।२०-२१।।

आदि (शब्द से) से वायु (जननेन्द्रिय) तथा उपस्थ (मलविसर्जन की इन्द्रिय) लेना चाहिए (समझना चाहिए), भूमि का लक्षण (गुण) है, द्रवत्व जल का गुण है, उष्ण गन्ध (गर्म) स्पर्श अग्नि का (तेज का), अरूप स्पर्श वायु का, शब्द आकाश का, इस प्रकार प्रत्येक के मुख्य गुण वर्णित हैं।

तत्त्वों में उत्तरोत्तर व्याप्य-व्यापक भाव है, पृथ्वी सबसे अधिक व्याप्त है तथा जल से लेकर शिव तक पैंतीस तत्त्व व्यापक (व्याप्त करने वाले) हैं, इस प्रकार पृथ्वी, आकाश आदि के गुणों से भूतों (भूत तत्त्वों) की सृष्टि होती है। परमशिव तत्त्व के सर्वत्र (व्याप्त) रहने से वह विश्वमय है तथा यामल रूप (दोनों रूप)है अर्थात् विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों है, उसका यह स्वरूप ही भक्तों के समावेश (प्राप्ति) का लक्ष्य है, यह संक्षेप में उनकी वन्दना स्वरूप वर्णित किया गया।

षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह श्रीमद्राजानकानन्दाचार्य विरचित विवरण सहित समाप्त हुआ।।

व्याख्या :- कारिका तथा उसके विवरण (टीका) में शेष तीन कर्मेन्द्रियों के स्वरूप तथा कार्यों का वर्णन एवं पञ्च महाभूत तत्त्वों के गुणों का निरूपण किया गया तथा यह बताया गया कि सूक्ष्म तत्त्व अपने से उत्तरोत्तर स्थूल तत्त्व अर्थात् सृष्टि-क्रम में आगे आने वाले तत्त्व को व्याप्त करता है। इस प्रकार यह बताया गया है कि परमशिव तत्त्व सभी तत्त्वों को व्याप्त करता है, इसीलिये वह विश्वमय है तथा इस क्रम में वह चूँकि पहले स्थान पर है अत: उसे अन्य तत्त्व व्याप्त नहीं करते, फलत: वह विश्वोत्तीर्ण भी है।

गमन करने, आने-जाने अथवा चलने-फिरने की क्रियाओं का साधन पादेन्द्रिय कहा जाता है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान पैर है। परन्तु जिनके पास पैर नहीं होता उनके अन्य अंगों में यह सामर्थ्य होती है। पक्षी पंख से उड़ते हैं। जल-जन्तु पेट के बल चलते हैं। विसर्जन अर्थात् मलत्याग की क्रिया का साधन पायु कहलाती है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान गुदा होता है। यह क्रिया क्षमता अन्य इन्द्रियों में भी होती है। यथा मूत्र त्याग जननेन्द्रिय से ही किया जाता है और नाक, आँख, मुख, त्वचा के छिद्र आदि भी मल त्याग के साधन बनते रहते हैं। विषय आनन्द को अभिव्यक्त करने की क्रिया का साधन इन्द्रिय उपस्थ कहलाती है। स्थूल शरीर में इसका मुख्य स्थान जननेन्द्रिय होता है। यह क्षमता अंशत: शरीर के अन्य अंगों में भी पायी जाती है।

प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक चौबीस तत्त्वों के विकास के विषय में काश्मीर शैव दर्शन और सांख्य में सहमति है। अन्तर केवल इतना ही है कि सांख्य के अनुसार

ये तत्त्व प्रकृति के विकास हैं, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार, ये तत्त्व प्रकृति का विकास होते हुए भी अन्ततः परमशिव की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। सांख्य में प्रकृति स्वयं आदि तत्त्व है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में प्रकृति स्वयं सृष्टि विकास का एक तत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार सृष्टि के सभी तत्त्व परमशिव की विभिन्न अवस्थाओं के विभिन्न रूप ही हैं। इनका अलग से अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। ये तत्त्व परमतत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इसलिये ये मूलतः परमतत्त्व के तदनुरूप ही हैं। प्रत्येक तत्त्व की दो अवस्थितियाँ होती हैं। यह विश्व को व्याप्त भी करता है और विश्व के अंगों का निर्माण कार्य भी संपादित करता है। इन तत्त्वों का सम्बन्ध परमतत्त्व से सदैव बना रहता है। ये न तो शिव से ही अलग हैं और न एक दूसरे से, प्रत्युत् प्रत्येक तत्त्व में सभी तत्त्व उपस्थित हैं। विश्व की आभासरूपता में तत्त्वों का यह क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है। जिस तरह उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्वों को अपने में सन्निहित किये रहते हैं उसी तरह निम्नतर तत्त्व भी अपने सभी उच्चतर तत्त्वों को समाहित किये रहते हैं। विज्ञानभैरव में कहा गया है कि पूर्व तत्त्व उत्तर तत्त्वों में सर्वत्र व्यापक भाव से अवस्थित रहते हैं, जैसे घट इत्यादि में मृत्तिका रहती है। मालिनी विजयोत्तर तंत्र में तत्त्वों के उपर्युक्त क्रम-विधान का आधार पूर्व-पूर्व तत्त्वों की उत्तर-उत्तर तत्त्वों से गुणोत्कृष्टता बतायी गई है। एक निश्चित तत्त्व की अलग अभिव्यक्ति का अर्थ केवल इसका चेतना की एकता पर अलग रूप में प्रकाशित होना है। इस आधार की अनुपस्थिति में कुछ भी प्रकाशित न होगा।

पारिभाषिक शब्द

अध्वा- सृष्टि-क्रम के विभाग को अध्वा कहा जाता है। काश्मीर शैव दर्शन में दो प्रकार की अध्वा मानी गई हैं - शुद्ध अध्वा तथा अशुद्ध अध्वा। शिव से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक शुद्ध अध्वा है तथा माया से लेकर पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त अशुद्ध अध्वा है। शुद्ध अध्वा में शुद्ध चैतन्य को पूर्णत्व का बोध रहता है, इसलिये इसे शुद्ध अध्वा कहते हैं तथा अशुद्ध अध्वा में माया के पञ्चकञ्चुकों के प्रभाव से अपूर्णता आ जाती है, इसलिये इसे अशुद्ध अध्वा कहा जाता है।

अहम् — प्रमाता–आत्म चैतन्य की शुद्ध चेतना के रूप में अनुभूति को अहम् (मैं) कहा जाता है।

ऐश्वर्य — ईश्वरत्व। सभी प्रकार की शक्ति सामर्थ्य को पूर्ण रूप में धारण करना ऐश्वर्य कहलाता है।

अनुत्तर — विश्वातीत परमतत्त्व। काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव को विश्वातीत बताने के लिये उसे अनुत्तर कहा गया है।

अनुत्तरमूर्ति — अनुत्तरस्वरूप। जो विश्वोत्तीर्ण है।

अनुग्रह — कृपा। बिना किसी शर्त के कृपा करना अथवा कल्याण करना अनुग्रह कहलाता है।

आभास — अभिव्यक्ति अथवा प्रतीति। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार शिव स्वयं को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है, यह उसका जगत् के रूप में आभासित होना कहा जाता है। आभास का दूसरा अर्थ है प्रतीति मात्र होना अर्थात् जड़ रूप न होना। सम्पूर्ण जगत् शिव चैतन्य की अभिव्यक्ति होने से अन्ततः जड़ रूप न होकर चैतन्य के उपादान से निर्मित प्रत्यय रूप है।

मल — माया के पञ्चकञ्चुकों से लिप्त हो जाने पर आत्मा में जो संकोच रूपी (अपूर्णता) अशुद्धता आ जाती है उसे तन्त्रों में मल कहा जाता है। मल तीन प्रकार के हैं — आणव मल, मायीय मल तथा कार्म मल।

आणव मल — जो पूर्ण चैतन्य को आणविक अर्थात् अणुरूप (अपूर्ण) बना देता है उसे आणव मल कहते हैं। अज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान को आणव मल कहा जाता है।

मायीय मल — माया के प्रभाव से आत्मा में आयी अशुद्धता (अपूर्णता) को मायीय मल कहा जाता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार द्वैत प्रथात्मक ज्ञान (द्वैत भाव) ही मायीय मल है।

कार्म मल — संकोच (बन्धन या सीमितता) ग्रहण कर लेने के पश्चात् आत्मा आणव मल तथा मायीय मल से आबद्ध हो जाने के फलस्वरूप कर्म-नियम के बन्धन में भी आबद्ध हो जाता है, वह कर्मों के अनुसार उनका फल भोगने के लिए बाध्य हो जाता है। इस कर्मजनित बन्धन को कार्म मल कहा जाता है।

बिन्दु — शक्ति की परा अवस्था।

चिदणु — चेतन अणु (संकुचित आत्मा)।

चैतन्य — शुद्ध चेतना।

इच्छा — सृष्टि करने की इच्छा। परमशिव में सृष्टि का प्रथम बीज रूप उन्मेष।

इदम् — विषय रूप ज्ञान। जगत् का संकेत करने के लिए इदम् या इदम् विमर्श का प्रयोग किया जाता है।

कञ्चुक — आवरण। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार माया अपनी पाँच प्रकार की तिरोधानकारी शक्तियों से आत्मा के पूर्ण रूप को आच्छादित कर उसे संकुचित कर देती है। माया की इन शक्तियों को ही पञ्चकञ्चुक कहा जाता है। ये हैं - कला, विद्या, राग, काल और नियति।

कृत्य — शिव की क्रियात्मक अभिव्यक्ति को उसका कृत्य कहा जाता है। शिव को पञ्चकृत्यकारी कहा गया है। ये कृत्य हैं - सृष्टि, स्थिति (पालन), संहार, निग्रह तथा अनुग्रह।

क्षोभ — साम्यावस्था में असन्तुलन पैदा हो जाने से उसका सक्रिय हो जाना क्षोभ कहलाता है। प्रकृति को सत्त्व, रज तथा तम की साम्यावस्था कहा जाता है। जब इनमें से किसी एक गुण की प्रधानता हो जाती है तो उस साम्यावस्था में असन्तुलन पैदा हो जाता है। इसे ही क्षोभ कहा जाता है।

महामाया — शिव की शक्ति को महामाया कहा जाता है।

निग्रह — आत्म-संकोच अथवा स्वरूपाच्छादन निग्रह कहलाता है।

उन्मेष — प्राकट्य अथवा अभिव्यक्त होना। अभिव्यक्ति प्रसार अथवा आरम्भ को (सृष्टि को) उन्मेष कहा जाता है।

निमेष — अभिव्यक्ति का संकोच अथवा संहार निमेष कहलाता है।

परमशिव — परमतत्त्व को काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव से अभिहित किया गया है।

परमेश्वर — शिव की परमावस्था (परमशिव) को ही परमेश्वर कहा गया है।

परामर्श — आत्म-चेतना।

पर प्रमाता — सर्वोच्च अनुभूति कर्ता अथवा ज्ञाता (परमशिव)।

पशु — बद्धात्मा।

पशु प्रमाता — सीमित विषयी (ज्ञाता)।

पति — स्वामी (शिव)।

पाश — बन्धन।

प्रकाश — शुद्ध चेतना।

प्रलय — संहार।

प्रलयाकल — मलों से आबद्ध शरीर रहित आत्मा की अवस्था।

पूर्णाहन्ता — पूर्णावस्था में आत्म बोध करने वाला।

संकोच — सीमित होना।

संविद् — चैतन्य।

स्वातन्त्र्य — स्वेच्छा से कुछ भी कर सकने की सामर्थ्य।

शक्ति — शिव का क्रियात्मक अथवा गतिशील स्वरूप।

स्पन्द — पूर्णावस्था में स्वयमेव उत्थित होने वाली अनायास क्रिया।

शक्तिपात — अनुग्रह की प्राप्ति।

विमर्श — चेतना की क्रिया।

सर्वज्ञता — पूर्ण ज्ञान।

विश्वमय — जगत् में अन्तर्भूत रहना।

ग्रन्थ-सूची

अजड प्रमातृ सिद्धि , उत्पलदेव, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११.

अनुत्तराष्टिका, अभिनवगुप्त, डॉ० के० सी० पाण्डेय कृत 'अभिनवगुप्त ए हिस्टोरिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी' में प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५.

अनुभवनिवेदनस्तोत्र, अभिनवगुप्त, डॉ० के० सी० पाण्डेय कृत 'अभिनवगुप्त ए हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी' में प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३५.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, उत्पलदेव, वृत्ति सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१.

ईश्वर प्रत्याभिज्ञा-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८-२१.

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९३८-४१.

क्रमस्तोत्र, अभिनवगुप्त, डॉ० के० सी० पाण्डेय कृत 'अभिनवगुप्त, ए हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी' में प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९३५.

कुलार्णव तन्त्र, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९३९.

तन्त्रसार, अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८

तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त, जयरथकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८-३८.

नेत्र तन्त्र, काश्मीर ग्रन्थावली श्रीनगर, १९२६-३०

परमार्थ-चर्चा, अभिनवगुप्व, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९४७.

परमार्थ-सार, अभिनवगुप्त, योगराजकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६.

पर्यन्त पंचाशिका, अभिनवगुप्त, मद्रास, १९५१.

परात्रिंशिका, अभिनवगुप्त कृत चिवरण सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८.

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, जयदेवसिंह द्वारा सम्पादित और व्याख्यायित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९७३.

बोध पंचदशिका, अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, १९४७.

भास्करी, भास्करकण्ठ, भाग-३, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी के डॉ० के० सी० पाण्डेय कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, सं० ८४, लखनऊ, १९५४.

महार्थमंजरी, महेश्वरानन्द, काश्मीर ग्रन्थावली, १९१८.

मालिनी-विजय-तंत्र, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२२.

मालिनी-विजय-वार्तिक, अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२१.

विज्ञान-भैरव, शिवोपाध्यायकृत टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८.

रत्नत्रय, श्रीकण्ठ, वाणी विलास प्रेस, देवसालपुरी, १९२५.

शिवदृष्टि, सोमानन्द, उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित, काश्मीर ग्रन्थावली श्रीनगर, १९३४.

शिव-सूत्र, वृत्ति सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६.

शिव-सूत्र-वार्तिक, भट्टभास्कर, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५.

शिवसूत्र-विमर्शिनी, क्षेमराज, जे० सी० चटर्जी द्वारा सम्पादित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९११.

शिवस्तोत्रावली, उत्पलदेव, क्षेमराजकृत टीका सहित, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९२१.

स्तवचिन्तामणि, भट्टकल्लट, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८.

स्पन्दकारिका, भट्टकल्लट, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१६.

षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, राजानक आनन्द कृत टीका सहित, मुकुन्दराम शास्त्री द्वारा सम्पादित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१८.

स्पन्द-निर्णय, क्षेमराज, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२५.

स्पन्द-प्रदीपिका, उत्पल-वैष्णव, ई० जे० लेजर्स एण्ड कं०, वाराणसी, १८९८.

स्पन्द विवृत्ति, रामकाण्ठ, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१३.

स्पन्द-सन्दोह, क्षेमराज, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१७.

स्वच्छन्द-तन्त्र, क्षेमराज, टीका सहित, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९२७.

सहायक ग्रन्थ

अभिनवगुप्त हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी, के० सी० पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३.

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासाफी, एस० एन० दास गुप्त, भाग १-५, कैम्ब्रिज, १९२२.

काश्मीर शैविज्म, जे० सी० चटर्जी, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, १९१४.

काश्मीर शैव दर्शन, बलजिन्नाथ पण्डित, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९७३.

काश्मीर शैव दर्शन: मूल सिद्धान्त, डॉ० कैलाश पति मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२.

सिगनीफिकेंस ऑफ तान्त्रिक ट्रेडीशन, डॉ० कमलाकर मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी १९८१.

द डाक्ट्रिन ऑफ रिकगनीशन, आर० के० कौं, विश्वेश्वरानन्द इन्स्टीटयूट, होसियारपुर, पंजाब, १९६७.

तन्त्राज-स्टडीज ऑन देअर रिलीजन एण्ड लिटरेचर, चिन्ताहरण चक्रवर्ती, पंथीपुस्तक, कलकत्ता, १९७२.

द प्रत्यभिज्ञा सिस्टम, सर्वेपल्लि राधाकृष्णन् , इण्डियन फिलासाफी के भाग २ में उल्लिखित, लाइब्रेरी ऑफ फिलासाफी, १९३१.

प्रिंसिपल ऑफ तन्त्राज, ए० एवलान, गणेश एण्ड़ कम्पनी, आडियार, मद्रास.

शैवमत, यदुवंशी, झा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, १९५५.

अपरोक्षानुभूति, आ० शंकर, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९३७.

आइडियलिस्टिक थाट ऑफ इण्डिया,
पी० टी० राजू, जार्ज एलेन एण्ड आनविन लिमिटेड, रास्किन हाउस, म्यूजियम स्ट्रीट, लन्दन, १९५३.

उपनिषद् (ईशादि २८), निर्णय सागर, बम्बई, १९०४.

गौड़पाद कारिका, माण्डूक्य कारिका, चौखम्बा संस्करण, वाराणसी, १९१०.

दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्यकृत टीका, निर्णयसागर, बम्बई, १९०२.

नान डुअलिज्म इन शैव एण्ड शाक्त फिलासफी,
नन्दूलाल कुण्डू, श्री भैरवाजागेश्वरी मठ, कलकत्ता, १९६४.

नीलमत पुराण, सम्पादित संस्करण,
आर० एल० कांजिलाल और जगद्धर जाडू, पंजाब संस्कृत सीरीज, सं० ५, १९२४.

नोटिसीज ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स,
महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, भाग-१-५, कलकत्ता, १८९८-१९११.

पंचदशी, माधवाचार्य, निर्णयसागर, बम्बई, १९२७.

मध्यान्त-विभाग-सूत्र-मैत्रेय, असंग, वसुबन्धुकृत टीका, जायसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, १९६७.

महायान विंशक, नागार्जुन, वाराणसी १९३१.

माध्यमिक शास्त्र, प्रसन्नपद टीका,
पी० एल० वैद्य का दरभंगा प्रकाशन, १९५६.

राजतरंगिणी, कल्हण, विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, बूलनर इण्डोलाजिकल सीरीज, सं० ६, १९६५.

शक्ति एण्ड शाक्त, आर्थर एव एलान, गणेश एण्ड कम्पनी,

आडियार, मद्रास, १९६२.

श्रीमद् भागवद्गीता, वेदव्यास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६०.

सर्वदर्शन संग्रह माधवाचार्य, प्रो० उमाशंकर शर्मा ऋषिकृत हिन्दी भाष्य, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४.

सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थाट, यमकमी सोगेन, कलकत्ता युनिवर्सिटी,

सौन्दर्य लहरी, शंकराचार्य, लोकसेवक प्रेस, बम्बई, १९३१.

सांख्य तत्त्व कौमुदी, गजानन शास्त्री, मुसलगाँवकर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७१.

ह्यूमन इम्मार्टेलिटी, विलियम जेम्स, फिलासफी ऑफ रिलिजन-विलियम एस० सहकियान, शोकमेन पब्लिशिंग कम्पनी, कैम्ब्रिज मेसेच्यूसेट्स, यू०एस०ए०, १९६५ में प्रकाशित ग्रन्थ अंश।

द क्रम तान्त्रिसिज्म ऑफ कश्मीर, नवजीवन रस्तोगी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।